कल्याण



वर्ष ३०

संख्या २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

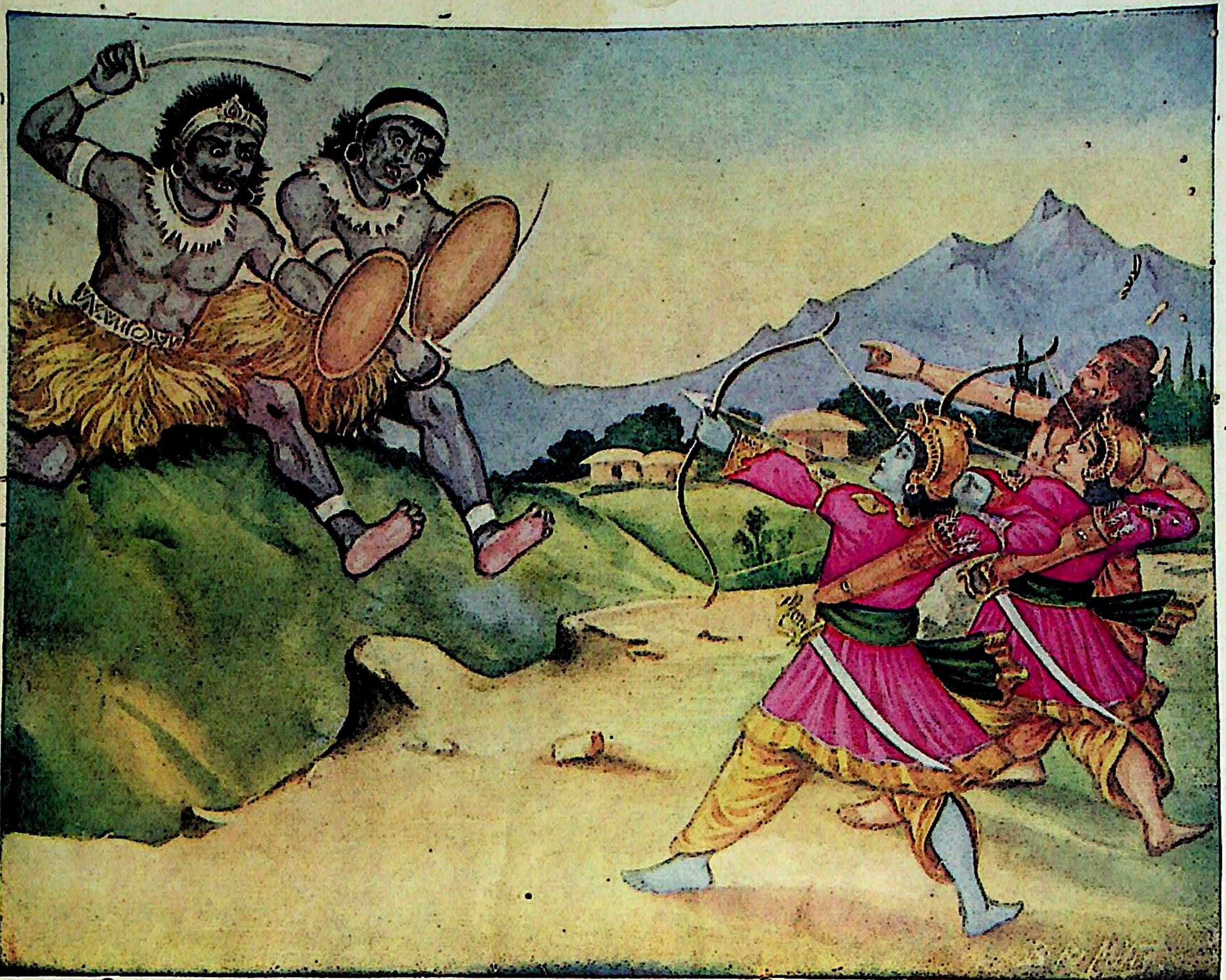
तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

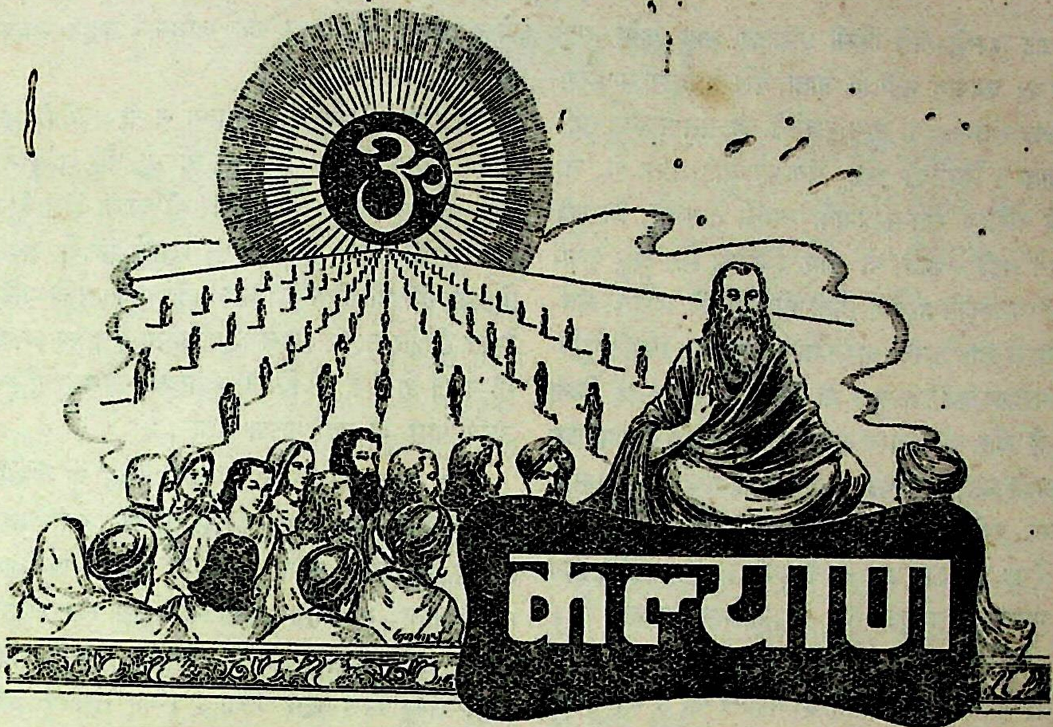
साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



मारीच-सुबाहुपर कृपा-कोप

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६ { संख्या २
पूर्ण संख्या ३५१

मुनि-यज्ञ-रक्षा

राम-लखन नृप सुअन दोउ राजत कौसिक संग ।
रूप-सुधा-सौंदर्य-निधि उमगत अंग सुअंग ॥
दामिनि-बारिद-बर बरन, तेज-पुंज रस-रंग ।
नखसिख सुंदर निरखि छबि मोहे अमित अनंग ॥
धनु-सर कर, केहरि-ठवनि, कटि पटपीत-निषंग ।
मुनि मख-राखन, भय-हरन, बिरमत सदा असंग ॥
बिकट कुटिल मारीच मति नीच सुबाहु भुअंग ।
उभय जीति, मुनि जग्य कौं सफल कर्‌यो सब अंग ॥

कल्याण

याद रक्खो—जैसे किसी दरिद्रका नाम कुबेर रख देनेसे वह धनवान् नहीं हो जाता, वैसे ही किसी साधारण व्यक्तिका संत-महात्मा नाम रखनेसे वह संत-महात्मा नहीं हो जाता। किसीको कोई संत-महात्मा कहता हो, जो अपना परिचय संत-महात्माके नामसे देता हो, जिसकी जगत्में बड़ी ख्याति हो और जिसकी सब ओर पूजा-प्रशंसा या स्तुति-प्रार्थना होती हो, पर जो वस्तुतः संत-महात्मा न हो; उसके कहने-कहलानेका या ख्याति-पूजा-प्रार्थना प्राप्त करनेका कुछ भी मूल्य नहीं है। वह धोखा देता है और स्वयं धोखा खाता है। इसलिये संत-महात्मा कहलाओ मत, अपनेको संत-महात्मा मानो मत—संत-महात्मा बनो। जो जगत्में प्रशंसा-पूजा पानेके लिये भोग-वैभव, मान-सम्मान या यश-कीर्ति प्राप्त करनेके लिये संत-महात्मा बना हुआ है, वह संत-महात्मा नहीं है।

याद रक्खो—संत वह है जो सब जगह सर्वदा सत्को—भगवान्को देखता है, महात्मा वह है जो समस्त चराचरमें वासुदेवके दर्शन करता है; जो स्वयं भगवद्-भावको प्राप्त है, जगत्में भगवद्भाव देखता है और सबको भगवद्भाव प्रदान करता है।

याद रक्खो—जो अपने भगवद्भावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्भाव ला देता है, उनके अंदर सोये हुए भगवान्को जगा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बड़ी सेवा करता है। इसके विपरीत, जो अपने आसुरीभावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्विरोधी असुरभावको उत्पन्न कर देता है, उनके अंदर सोये हुए शैतानको प्रबुद्ध कर उसे बढ़ा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बहुत बड़ी हानि करता है। इसलिये सदा-सर्वदा अपनेको भगवद्भावसे युक्त रक्खो और संसारमें पद-पदपर भगवान्को प्रबुद्ध करते रहो। तभी संत-महात्मा बन सकोगे।

याद रक्खो—संत-महात्मामें अभिमान या गर्व होता ही नहीं, जो संत-महात्मापनका—पारमार्थिकता या आध्यात्मिकताका गर्व करता है, वह सच्चे परमार्थ और अध्यात्मसे बहुत दूर है। धन और अधिकारके अभिमानकी अपेक्षा परमार्थ और अध्यात्मका अभिमान कहीं भयानक पतनकारक सिद्ध होता है।

याद रक्खो—सच्चा संत-महात्मा न तो अपनेको संत-महात्मा मानता है, न घोषित करता है और न दूसरेके द्वारा कहे जानेपर उसे स्वीकार ही करता है। विनय या नम्रताकी दृष्टिसे नहीं, वस्तुतः सच्चे संतको अपनेमें विशेषता दीखती ही नहीं। वह सर्वत्र भगवान्की महिमा देखता है और उसीमें सहज स्थित रहता है। वह त्यागका भी त्यागी होता है। किसी प्रकारका गर्व-दर्प-अभिमान उसके पास भी नहीं फटक पाता।

याद रक्खो—सच्चा संत प्रचारके लिये या किसीके उद्धारके लिये अभिमानपूर्वक कोई प्रयास नहीं करता, विचार भी नहीं करता। वह तो सदा अपने-आपमें रमण करता, आत्माराम रहता है अथवा स्वान्तःसुखाय उसके द्वारा उसके अपने प्रियतम प्रभुकी प्रीति-सुधा-रसका प्रवाह बहने लगता है। वह संसारके उद्धार-के लिये कोई आग्रह या प्रयत्न नहीं करता, उसका वह आत्मरमण अथवा उसकी वह स्वतः प्रवाहित प्रियतमकी प्रीति-सुधा-रसकी मधुर धारा संसारके सम्पूर्ण दुःख-दावानलको, सारी मृत्युकी विभीषिकाको, समस्त ज्वाला-यन्त्रणाको हरकर उसे सच्चे सुखके शुभ दर्शन करवाकर आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि करा देता है। इसीमें संतका सहज संतपन है, यही महात्माका माहात्म्य और महत्त्व है।

याद रक्खो—सच्चे संत-महात्मा वासना, कामना, ममता, आसक्ति एवं दर्प-अभिमानसे सर्वथा रहित होते हैं, इससे न तो उन्हें स्वयं अपने संतपनका स्मरण रहता है और न वे दूसरोंको ही इसकी स्मृति दिलाते हैं। अतः उनके द्वारा ऐसा कुछ कार्य होता ही नहीं, जिसमें संत कहलानेकी उनकी छिपी वासना भी हो। कहलाना वही चाहते हैं, जो हैं नहीं; जो हैं, वे तो हैं ही। अतएव इन सच्चे संत-महात्माओंका आदर्श सामने रख-कर तुम सच्चे संत-महात्मा बनो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(वर्ष २९ पृष्ठ १४५० से आगे)

(६३)

साधकको चाहिये कि किसी भी कालमें और किसी भी परिस्थितिमें उस अनन्तकी कृपा-शक्तिके आश्रयका त्याग न करे। इसके लिये साधक जो कुछ कर सके करे अर्थात् उनकी कृपासे जो कुछ विवेक, शक्ति और योग्यता प्राप्त है, उसका सदुपयोग करनेमें अपनी ओरसे असावधानी न करे। उसके बाद जब अपनी कमजोरीका अनुभव हो, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाय।

वास्तवमें कृपाशक्तिका आश्रय अपनी कमजोरीका अनुभव होनेपर ही लिया जाता है। पुरुषार्थका बल रहते हुए कोई कृपा-शक्तिका आश्रय नहीं ले पाता।

कभी-कभी पुरुषार्थ और कृपाशक्तिके आश्रयमें द्वन्द्व प्रतीत होता है। जब पुरुषार्थ करते हैं और उसमें सफलताका दर्शन होता है, तब न तो कृपा-शक्तिकी ओर दृष्टि जाती है और न अपनी असमर्थता ही दीखती है। एवं जब असफलता सामने आती है, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेते हैं। पर वास्तवमें इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि प्राप्त सामर्थ्य भी उनकी कृपाका ही फल है और उसके बाद कृपा-शक्तिका आश्रय है, अतः महिमा सब कृपाशक्तिकी ही है। तथापि साधारण मनुष्य इस रहस्यको नहीं समझते। इसीसे उनको विरोध-सा प्रतीत होता है।

विचार करनेपर प्रतीत होता है कि मनुष्यके जीवनके सुखकालमें प्रभु-कृपाका अनुभव, अपने भाग्यका महत्त्व या पुरुषार्थके फलका उपभोग—ये तीन बातें आती हैं।

जो मनुष्य सुखमें अपने पुरुषार्थका फल मानता है वह यदि दुःखमें अपनेको अपराधी मानकर दुखी होता है तो उसकी यह मान्यता एक प्रकारसे ठीक है। इसी प्रकार जो सुखको अपने भाग्यका फल मानता है वह यदि दुःखमें भी अपने भाग्यकी निन्दा करता है, अपनेको अभागा मानता है तो यह भी ठीक है।

पर यदि किसीको सुखमें तो प्रभुकी कृपा मालूम होती हो और दुःखकालमें न होती हो, उस समय पुरुषार्थकी कमी मानकर या अन्य किसी कारणसे अपनेको अपराधी मानता हो तो यह मानसिक संतुलन नहीं है, द्वन्द्वात्मक स्थिति है। ऐसी हालतमें साधकको समझना चाहिये कि सुखमें तो प्रभुकी कृपा मानना और दुःखमें उनकी कृपा न मानकर अपनेको अपराधी मानना—इसका यह अर्थ है कि भीतरसे तो मुझे अपने पुरुषार्थका भरोसा है और ऊपर-ऊपरसे मैं प्रभु-कृपाका नाम लेता हूँ। यही भूल है; क्योंकि यदि सचमुच प्रभु-कृपाका भरोसा होता तो दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन होता।

जो सुखकालमें पुरुषार्थका या भाग्यका फल मानता है, उसे दुःखकालमें भी उनको ही हेतु मानना चाहिये और जो सुखकालमें प्रभु-कृपा मानता है उसे दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन करना चाहिये। सुखमें एक बात और दुःखमें दूसरी बात मानना चित्तकी अशुद्धिका प्रमाण है। अतः साधकको सुख और दुःख दोनोंमें ही एक बात माननी चाहिये। भाव यह कि हरेक परिस्थितिमें हर समय प्रभुकी कृपाका ही दर्शन करते रहना चाहिये; क्योंकि सुखकी अपेक्षा दुःखकी परिस्थिति लाख गुना महत्त्वकी है।

दुःखके दो भेद हैं—एक दुःख तो सजीव होता है और दूसरा निर्जीव होता है। सजीव दुःख तो वह है जो परिस्थिति-ज्ञानसे होता है और निर्जीव दुःख वह है जो मनकी बात पूरी न होनेपर होता है। सजीव दुःखसे साधक परिस्थितियोंसे असङ्ग होता है और निर्जीवसे साधारण व्यक्तियोंके चित्तमें क्रोध, भय और क्षोभ आदि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं।

अतः साधकके जीवनमें निर्जीव दुःख नहीं होना चाहिये ।

सजीव दुःख तभी होता है, जब मान्यतामें द्वन्द्व नहीं रहता । एक अंशमें भाग्यवादी होना और दूसरे अंशमें भाग्यवादी न होना, एक अंशमें आस्तिकवाद और दूसरे अंशमें भौतिकवादकी मान्यता—यही मान्यताका द्वन्द्व है । इस द्वन्द्वके रहते चित्त अशुद्ध रहता है; क्योंकि इस प्रकारका द्वन्द्व चित्त-अशुद्धिका कारण है ।

अतः साधकको चाहिये कि दुःख और सुख दोनों-को ही प्रभुकी कृपा समझे ।

यदि कोई कहे कि दुःखको प्रभुकी कृपा कैसे समझें तो कहना होगा कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ तो परिवर्तनशील हैं, वे तो जैसे आती हैं वैसे ही चली जाती हैं, पर दुःख साधकको परिस्थितिके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान कराता है । यही उनकी कृपा-शक्तिका प्रभाव है ।

साधकको समझना चाहिये कि रोगके मूलमें किसी-न-किसी प्रकारका राग (आसक्ति) है ।

राग करुणा आदि गुणोंसे और स्वार्थ तथा अवगुणों-से भी होता है, अर्थात् इन दोनोंसे ही रागका सम्बन्ध है।

जब गुणोंके आघातसे राग होता है, तब तो मनुष्य शान्त और अन्तर्मुख होता है; पर जब दोषोंके प्रभावके आघातसे राग होता है, तब वह क्रोधी और ईर्ष्यालु बन जाता है ।

अतः मनुष्यको सुख और दुःखका कारण एकको ही मानना चाहिये ।

जो दोनोंका कारण प्रारब्धको मानता है वह सुख और दुःख दोनोंको भोगकर मिटा देता है, सुख-दुःखकी चाह नहीं करता; क्योंकि उसकी मान्यताके अनुसार जो कुछ प्रारब्धके फलरूपमें होना है, वही होगा । चाह करनेसे कोई परिवर्तन नहीं होगा । यह समझकर वह चाहरहित हो जाता है ।

जो पुरुषार्थको दोनोंका कारण मानता है वह भी समझता है कि चाहसे कुछ नहीं होगा, करनेसे होगा । अतः वह जाने हुए दोषको सहन नहीं कर सकेगा, उसे मिटानेके लिये पुरुषार्थ करेगा ।

आस्तिककी मान्यतामें दुःख और सुख दोनों ही साधन सामग्री हैं, जो कि प्रभुकी अहैतुकी कृपाका पुरस्कार है। अतः वह दोनोंका ही प्रभुकी प्रसन्नताके लिये सदुपयोग करेगा, इसीलिये हर हालतमें उसकी दृष्टिमें आनन्द-ही-आनन्द है ।

साधकको चाहिये कि दुःखकी परिस्थिति आते ही आश्चर्यान्वित होकर देखे कि मेरा प्रियतम इस परिस्थिति-के द्वारा मुझे कौन-सी नयी चीज देना चाहते हैं और सुखमें यह देखना कि वे कौन-सी वस्तुका अपनी प्रसन्नताके लिये मुझसे उपयोग कराना चाहते हैं; इस प्रकार विचार करनेपर जैसी प्रेरणा मिले वैसा ही करना चाहिये और निरन्तर अपनेको उनकी गोदमें स्थित देखकर निश्चिन्त और निर्भय रहना चाहिये ।

दुःखके कालमें आस्तिक साधकके चित्तमें तीन प्रकारके विचार उसकी साधनाके अनुसार हुआ करते हैं—

(१) दुःखके स्वरूपमें हमारे प्रियतम ही आये हैं ।

(२) दुःख हमारे प्यारेका भेजा हुआ पुरस्कार है ।

(३) दुःखमें हमारा कल्याण भरा है ।

पहला भाव सबसे ऊँचे साधकका होता है जो कि कृपा-शक्तिकी सिद्धावस्थाका परिचायक है, दूसरा कृपा-शक्तिपर निर्भरताका लक्षण है और तीसरा कृपा-शक्तिके साधनके प्रारम्भकालका भाव है । इन सबका फल है अपने प्रीतमके प्रेमका अधिकारी हो जाना ।

धर्मयुक्त उन्नति ही उन्नति है

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सब प्रकारकी उन्नति करे। मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति निष्काम-भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे ही हो सकती है; किंतु दुःखका विषय तो यह है कि आजकल बहुत-से लोग तो धर्मके नामसे ही घृणा करते हैं। वास्तवमें वे लोग धर्मके तत्त्वको नहीं समझते। अतः प्रत्येक मनुष्यको धर्मका तत्त्व, रहस्य और स्वरूप समझना चाहिये। धर्मका स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिकदर्शन)

'इस लोक और परलोकमें जो हितकारक है, उसीका नाम धर्म है।'

जो इस लोकमें हितकर जान पड़े, किंतु परलोकमें अहितकर हो, वह धर्म नहीं है। अतः हमारी सभी क्रियाएं धर्मके अनुसार ही होनी चाहिये। इसीसे हमारी सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति हो सकती है। उन्नतिके कई प्रकार हैं। उनमें शारीरिक, भौतिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक—ये प्रधान हैं।

शारीरिक उन्नति

शारीरिक उन्नतिके साथ भी धर्मका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शारीरिक उन्नति धर्मानुकूल ही होनी चाहिये। शारीरिक उन्नति भोजनसे विशेष सम्बन्ध रखती है। सात्त्विक भोजन करना शरीरके लिये बहुत ही हितकर है और वही धर्मानुकूल है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक ८ में सात्त्विक भोजनका इस प्रकार वर्णन किया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

हमें सात्त्विक भोजनके इन लक्षणोंपर ध्यान देना चाहिये। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले पदार्थोंका भोजन ही सात्त्विक भोजन है। साथ ही वह भोजन रसयुक्त, चिकना, हृदयको प्रिय तथा बहुत कालतक ठहरनेवाला होना चाहिये। ऐसा भोजन क्या है? गायका दूध, दही, घी, खोवा, छेना आदि; तिल, बादाम, मूँगफली, नारियल आदिका तेल; बादाम, पिस्ता, दाख, छुहारी, खजूर, काजू आदि मेवा; केला, अनार, अंगूर, संतरा, मोसम्बी, नासपाती, सेव आदि फल; आलू, अरवी, तुरई, भिंडी, कोंहड़ा, लौकी, बथुआ, मेथी, पुदीना, पालक आदि शाक-सब्जी; एवं जौ, तिल, गेहूँ, चना, चावल, मूँग आदि अनाज—ये सभी सात्त्विक पदार्थ हैं। ये सभी आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले हैं; शरीरको पुष्ट करनेवाले हैं तथा प्रायः सभी पदार्थ स्निग्ध, चिकने, रसयुक्त और मधुर हैं। इन सात्त्विक पदार्थोंका अपनी प्रकृति तथा शारीरिक स्थितिके अनुसार परिमितरूपमें सेवन करनेसे शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है। इसके विपरीत, राजसी-तामसी भोजन करनेसे शारीरिक और मानसिक हानि होती है। अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(गीता १७। ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दु:ख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं अर्थात् राजसी भोजन है। एवं जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है अर्थात् वह तामसी भोजन है।'

अत: उपर्युक्त राजसी और तामसी भोजनका परित्याग करके सात्त्विक भोजनका सेवन करना ही उचित है।

इसके सिवा पुरुषोंके लिये आसन, दण्ड, बैठक, कुश्ती, दौड़ आदि कसरत करना तथा स्त्रियोंके लिये चक्कीसे आटा पीसना, चर्खा कातना, रसोई बनाना, घरकी सफाई करना—आदि गृहकार्य करना एवं अन्य शारीरिक न्याययुक्त परिश्रम करना शरीरकी उन्नतिमें लाभदायक है। इसके विपरीत निकम्मा रहना, अधिक सोना, प्रमाद, दुराचार, मिथ्या बकवाद, अनुचित परिश्रम और मैथुन करना—ये सब शरीरके लिये महान् हानिकर हैं। इनसे बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार शरीरमें सात्त्विक बुद्धि, बल, आयु, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना एवं शरीरका स्वस्थ रहना शारीरिक उन्नति है।

भौतिक उन्नति

भौतिक उन्नति शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति उसकी अपेक्षा व्यापक है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंको अधिक-से-अधिक मनुष्योपयोगी बना लेना भौतिक उन्नति है। वर्तमानमें जिसे भौतिक विज्ञान या लौकिक विज्ञान कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है। इस विज्ञानके सम्बन्धमें वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुत: उनकी यह उन्नति आंशिक ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, परंतु उसका प्रकार तथा साधन दूसरा था और वह अधिक विकसित एवं प्रभावोत्पादक था। रामायणमें वर्णित 'पुष्पक' विमान, राजा शाल्वका 'सौभ' विमान, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र और ब्रह्मास्त्र एवं श्रीवेदव्यासजीके द्वारा वर्षों बाद मृत अठारह अक्षौहिणी सेनाका आवाहन करके प्रत्यक्ष दिखाना और बातचीत करा देना तथा श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीकपिलदेवजी आदिके जीवनमें अष्ट सिद्धियोंके चमत्कारकी घटनाएँ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

ऐन्द्रियिक उन्नति

इसी प्रकार हमें इन्द्रियोंकी भी उन्नति करनी चाहिये। इन्द्रियोंमें विशुद्धता, नीरोगता, तेज, ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका बढ़ना इन्द्रियोंकी उन्नति है।

मनुष्यको उचित है कि अपनी वाणी, कान, नेत्र आदि इन्द्रियोंको शुद्ध बनावे। सत्य, प्रिय, हित और मित भाषणसे तथा भगवान्के नाम-जप, लीलागुण-गान और सत् शास्त्रोंके स्वाध्यायसे वाणीकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत भाषणसे वाणी अपवित्र होती है। इसी प्रकार कानोंके द्वारा उपदेशप्रद, हितकर और सद्गुण-सदाचार तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातें सुननेसे कानोंकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत पर-निन्दा, दूसरोंके दुर्गुण-दुराचार तथा व्यर्थकी बातें सुननेसे कान दूषित होते हैं। इसी तरह नेत्रोंके द्वारा अच्छे पुरुषोंके दर्शन करनेसे, दूसरोंके गुण देखनेसे तथा परायी स्त्रियोंको मातृभावसे देखनेसे नेत्र शुद्ध होते हैं और इसके विपरीत दूसरोंके दुर्गुण-दुराचारोंको तथा विकार पैदा करनेवाले मलिन दृश्यों, चित्रों, पदार्थोंको देखनेसे या परायी स्त्रियोंको बुरी दृष्टिसे देखनेसे नेत्र दूषित होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जब इन्द्रियाँ शुद्ध होकर दिव्य हो जाती हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे नेत्रोंसे दूर

देशकी वस्तु दीखने लग जाती है, कानोंसे दूर देशकी बातें सुनने लग जाती हैं तथा वाणीसे कहे हुए वचन प्रामाणिक माने जाते हैं और सत्य होते हैं।

मानसिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपने मनकी उन्नति करनी चाहिये। मनमें जो दुर्गुण-दुराचार और पापोंके संस्कार भरे हैं, यही मनका मैलापन है। किसी भी कार्यको करनेके लिये जो मनमें साहस नहीं होता है, यह मनकी कमजोरी है, दुर्बलता है तथा विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण जो मनमें चञ्चलता है, यह मनका विक्षेपदोष है। अतः मनको इन मलिनता, दुर्बलता तथा चञ्चलता आदि दोषोंसे रहित करके शुद्ध और बलवान् बनाना एवं स्थिर करना आवश्यक है। निःस्वार्थ भावसे कर्तव्यका पालन करनेसे, किसीका बुरा न चाहनेसे, बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका त्याग करनेसे और भगवान्के नाम-रूपका स्मरण करनेसे मन शुद्ध होता है। ईश्वरपर विश्वास रखनेसे मनकी कमजोरी दूर होती है और धीरता, वीरता, गंभीरता बढ़ती है तथा विषयोंमें वैराग्य और अध्यात्मविषयक विचार करनेसे विक्षेपदोषका नाश होता है। इस प्रकार करनेसे मनमें पवित्रता, स्थिरता, साहस, बल आदिका आविर्भाव होकर मनकी उन्नति हो जाती है।

मनकी उन्नतिके लिये गीतामें भगवान्ने मानस-तपका यों वर्णन किया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥
(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।' इस मानस-तपके आचरणसे मानसिक उन्नति शीघ्र और स्थायी होती है।

बौद्धिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपनी बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये। बुद्धिमें अपवित्रता, अज्ञता, विपरीत ज्ञान, संशय और अस्थिरता आदि अनेक दोष भरे हैं, वे सब सात्त्विक भाव, निष्काम सेवा, सत्पुरुषोंके सङ्ग, सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और परमात्माके ध्यानसे दूर होते हैं। अतएव बुद्धिको सात्त्विक बनाना चाहिये। सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीता अ० १८ श्लोक ३० में भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

'पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इस प्रकार समझकर बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये। बुद्धि सात्त्विक हो जानेपर मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता आदि सद्गुण अपने-आप स्वाभाविक आ जाते हैं।

व्यावहारिक उन्नति

इसी तरह हमें अपने व्यवहारकी उन्नति करनी चाहिये। हम सबके साथ ऐसा व्यवहार करें, जो सत्यता, सरलता, स्वार्थत्याग, निष्कामभाव, उदारता और प्रेमसे युक्त हो तथा जिससे दूसरोंका-हित हो। व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, विश्वासघात कभी नहीं करना चाहिये। वस्तुओंके लेन-देनके समय वजन, नाप और संख्यामें न तो अधिक लेना और न कम देना ही चाहिये। इसी प्रकार ग्राहकको एक चीज दिखाकर उसके बदले दूसरी चीज नहीं देनी चाहिये और नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, भाड़ा, ब्याज ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये। बढ़िया चीजमें घटिया और पवित्रमें अपवित्र चीज मिलाकर न

तो खरीदना चाहिये और न बेचना ही चाहिये एवं ऐसी वस्तुओंका भी व्यवसाय नहीं करना चाहिये जिनमें प्राणियोंकी विशेष हिंसा हो तथा जो मांस, मदिरा, अण्डे, हड्डी, चमड़ा आदि अपवित्र गंदी चीजोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हों। व्यवसायके समय परस्पर सबके साथ बहुत उत्तम तथा सरल, विनम्र, स्पष्ट, न्याययुक्त और सत्य व्यवहार करना चाहिये। गल्ला-किराना, सूत-कपड़ा, गुड़-चीनी, लोहा-सिमेंट आदि किसी भी वस्तुके भाव तेज या मंदे हो जानेपर भी स्वीकार किये हुए सौदेके मालको देने और लेनेमें न तो जरा भी आनाकानी करनी चाहिये, न बेईमानी करनी चाहिये और न अस्वीकार ही करना चाहिये, चाहे कितनी ही हानिका सामना करना पड़े। किसी भी दलाल, व्यापारी या एजेंटका कोई भूलसे दोष हो जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिये तथा अपनेसे सम्बन्धित सभी व्यक्तियोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो और उनकी सब प्रकारसे उन्नति हो, ऐसा भाव रखना चाहिये। ऐसे व्यापारसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सुगमतासे उन्नति हो सकती है।

सामाजिक उन्नति

इसी प्रकार हमें सामाजिक उन्नति भी करनी चाहिये। बच्चा पैदा होनेपर पार्टी देना, लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलना, बीड़ी-सिगरेट पिलाना, विवाह-शादीमें दहेज लेना, दहेजका दिखलावा करना, आतिशबाजी छोड़ना, विनोरी निकालना, बुरे गीत गाना, थियेटर-तमाशे दिखलाना, पार्टी देना, बहुत अधिक रोशन करना, बड़े पण्डाल बनाना, दिखावेमें व्यर्थ खर्च करना एवं घरके किसी वृद्ध आदमीके मर जानेपर विधिसङ्गत ब्राह्मण-भोजन और बन्धु-बान्धवोंके अतिरिक्त प्रीतिभोज करना, पार्टी देना—आदि जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची है, इनको हटाना चाहिये। ये सब बातें सामाजिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

नैतिक उन्नति

इसी प्रकार हमें नैतिक उन्नति करनी चाहिये। आज जो हमारा नैतिक पतन हो गया है, इसका सुधार करना बहुत आवश्यक है।

स्कूल-कालेजोंमें पढ़नेवाले बालकोंको चाहिये कि उद्दण्डता और चञ्चलताका त्याग करके सबसे सभ्यतापूर्ण विनम्र व्यवहार करें। अध्यापकोंके प्रति पूज्यभाव रक्खें, उनके साथ श्रद्धा, विनय और आदरका व्यवहार करें और उनको नमस्कार करें। अध्यापकोंका कर्तव्य है कि वे छात्रोंके साथ पुत्रके समान स्नेहका व्यवहार रखते हुए सदा उनको अपने आचरणोंके द्वारा तथा मौखिकरूपसे आदर्श हितकर सत् शिक्षा दें।

आजकल बहुत-से लड़कोंमें, अध्यापकोंमें तथा छात्र-छात्राओंमें अश्लील बातचीत, गंदी चेष्टा और हँसी-मजाक होते हैं—यह भयानक नैतिक पतन है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अध्यापकोंको भी स्वयं इस दोषसे बचना और लड़कोंको अच्छी शिक्षा देकर बचाना चाहिये। आजकल स्कूल-कालेजोंमें पढ़ाईका समय बहुत कम रक्खा जाता है, अवकाश और छुट्टियाँ बहुत कर दी गयी हैं—इससे व्यर्थ तथा प्रमादमें समय नष्ट होता है और अध्ययन बहुत कम होता है—इसका भी सुधार करनेकी आवश्यकता है।

इसी प्रकार कर्मचारी और मजदूरोंको उचित है कि वे उद्योगके कारखानेके अथवा मालिक एवं मैनेजर आदिके प्रति उद्दण्डताका बर्ताव न करें। ऐसा कोई काम न करें जिससे उद्योगको तथा किसी अधिकारी व्यक्तिको कोई हानि पहुँचे। अपितु अपने परिश्रम, ईमानदारी, आज्ञाकारिता तथा व्यवस्था-पालनके द्वारा उद्योगका अधिक-से-अधिक हित करें तथा अधिकारियोंके प्रति सदा सद्भाव रक्खें एवं सद्व्यवहार करें। इसी प्रकार मालिक, मैनेजर और पदाधिकारियोंको चाहिये कि वे कर्मचारियों और

मजदूरोंके साथ आत्मीयता तथा उदारताका और प्रेमभरा बर्ताव करें, सदा उनका हित करते रहें, उनके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख समझें, अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न रक्खें, उनका कभी भी अपमान न करें, उनको नीचा न समझें; बल्कि अपनेको भी उन्हींकी भाँति एक कर्मचारी ही समझें।

रेलयात्रा करते समय किराया चुकाये बिना नियमविरुद्ध बोझ साथ न ले जायँ तथा नीचे दर्जेकी टिकट लेकर ऊँचे दर्जेमें न बैठें और न बिना टिकट ही यात्रा करें। न तो हकसे अधिक जगह ही रोकें और न जगह रहते हुए किसीको आनेसे मना ही करें। प्रत्युत सबके साथ प्रेमपूर्वक न्याययुक्त और उदारतापूर्ण व्यवहार करें। इसी प्रकार मेले आदिमें भी नीतिका व्यवहार करना चाहिये।

कहीं पंचायतीका काम पड़े तो पञ्च बनकर लोभ, मोह या अज्ञानसे अथवा मान-बड़ाईकी इच्छासे किसीका पक्षपात न करें, बल्कि सबके साथ न्याययुक्त सम और सत्य व्यवहार करें।

इसी प्रकार उच्च पदस्थ मन्त्री, रेल-अधिकारी, पुलिस-अधिकारी तथा अन्यान्य सरकारी अफसरोंको चाहिये कि वे सब जनताके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक न्याययुक्त समताका व्यवहार करें; मान, बड़ाई और भयसे या रिश्वत लेकर कभी शुद्ध नीतिका त्याग न करें।

उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे व्यवहार करनेपर नैतिक उन्नति होती है। यही परम धर्म है और इसीमें कल्याण है।

धार्मिक उन्नति

इसी प्रकार हमें धार्मिक उन्नति करनी चाहिये। जिससे अपनेमें और संसारमें धर्मका प्रसार हो, वही धार्मिक उन्नति है। धर्मके लक्षण श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

'१ धैर्य रखना, २ क्षमा करना, ३ मनको वशमें रखना, ४ चोरी न करना, ५ बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, ६ इन्द्रियोंको वशमें रखना, ७ सात्त्विक बुद्धि, ८ सात्त्विक ज्ञान, ९ सत्य वचन बोलना और १० क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

यह सामान्य धर्म मनुष्यमात्रके लिये है। यही इस लोक और परलोकमें प्रत्यक्ष परम हितकर है। धर्मकी विशेष बातें बड़े विशद तथा सुचारु रूपसे शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, उन्हें वहाँ देख लेना चाहिये। जैसे वर्ण-धर्मका निरूपण गीताके अठारहवें अध्यायमें ४२वेंसे ४४वें श्लोकतक तथा मनुस्मृतिके पहले अध्यायके ८८वेंसे ९१वें श्लोकतक किया गया है, उसे देख सकते हैं। वर्णाश्रम-धर्मका विशेष विस्तार देखना चाहें तो मनुस्मृतिमें दूसरे अध्यायसे छठे अध्यायतक देखना चाहिये।

मनुष्यको उचित है कि धर्मके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका सर्वथा त्याग कर दे। जैसे यक्षके आग्रह करनेपर भी युधिष्ठिरने राज्य और अपने सहोदर भाइयोंकी परवा न करके नकुलको ही जीवित कराना चाहा (देखिये महाभारत वनपर्व अ० ३१३)। उन्होंने धर्मके लिये स्वर्गको भी ठुकरा दिया, पर अपने साथ हो जानेवाले कुत्तेका भी त्याग नहीं किया। (देखिये महाभारत महाप्रास्थानिकपर्व अ० ३)।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। जीते-जी अपनेको दीवालमें चुनवा दिया; किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया।

चित्तौड़गढ़में राजपूतोंकी तेरह हजार स्त्रियोंने धर्मकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे दी।

इसी प्रकार जो आपत्ति पड़नेपर भी अपने धर्मका

त्याग नहीं करता, उसका कल्याण हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः—अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है।'

इसके सिवा, बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी, अग्निदाह, मेला आदिके समय आर्त्त मनुष्योंको हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। स्त्रियोंकी मातृभाव रखकर सेवा करनी चाहिये। भय, स्वार्थ, आसक्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामके वशीभूत होकर कभी नीति, समता और धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। एवं सबके साथ सदा उदारता, दया, स्वार्थत्याग, निष्कामता, विनय और प्रेमसे भरा व्यवहार करना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने धर्मका सार बतलाते हुए कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जाके मन माहीं। ता कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।
(गीता १२। ४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत है। अतएव हमें हरेक काममें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंको आराम पहुँचावें, वह भी केवल निष्कामभावसे—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे या स्वार्थसिद्धिके अभिप्रायसे नहीं।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और परहितकी भावनासे स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक आचरण करनेपर उपर्युक्त सभी प्रकारकी उन्नति परमार्थमें परिणत हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कल्याण करनेवाली हो जाती है। जैसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारयुक्त उन्नतिसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

पहले अमृत-सा, पीछे जहर-सा

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई देसाई)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
(गीता १८। ३७)

इस श्लोकका अर्थ समझनेके लिये जगत्‌में सुख क्या है यह जानना चाहिये। सुख दो प्रकारका है। एक भोगसुख है यानी प्राणी-पदार्थके संसर्गसे मिलनेवाला सुख और दूसरा सुख है आत्मसुख। अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' इस भावनासे मिलनेवाला सुख।

भोगसुखमें भोक्ता अपनेको अपूर्ण मानता है और जिस वस्तु या प्राणीसे अपनेको सुख होता है, वह समझता है कि उसके बिना वह रङ्क है, उसके बिना वह दीन और दुखी है। वह उसके परतन्त्र है, उसके अधीन रहता है। भोगसुखकी इच्छा करनेवाले सदा पराधीन हैं। उसकी सुख-शान्ति या आनन्द दूसरेके हाथ है। उसको कभी स्वतन्त्रता नहीं मिलती। जिसका काम दूसरेके बिना नहीं चल सकता, वह पराधीन है। 'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।' मनुष्यको सुख और आनन्दकी पल-पलमें जरूरत है। प्राणी पानी, भोजन और कपड़ेके बिना कुछ समय गुजार सकता है और वह भी स्वसंतोष और आनन्दसे। हवा बिना भी कुछ मिनट निभा लेता है, परंतु प्राणिमात्रका आनन्दके बिना, सुखेच्छाके बिना काम नहीं चलता।

प्राणिमात्र यह इच्छा करता है कि सुख और आनन्द मुझसे एक पलके लिये भी अलग न हों। सुख और आनन्द प्राणीका जीवन है। अपना सर्वस्व देकर भी

प्राणी सुखकी इच्छा करता है। ऐसा सुख प्राणी-पदार्थसे मिलता है। इस विश्वासपर जिसको जीना हो, उसको प्राणी-पदार्थको अपने अधीन करने और अपने वशवर्ती बनानेके लिये श्रम और चिन्ता रहेगी ही। अतएव इस प्रकार सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेमें उसका नाश ही होता है। ऐसा प्राणी-पदार्थ, जिससे सुख पानेकी जीव कल्पना करता है, वह देखा भी जा सकता है और भोगा भी जा सकता है। वैसे प्राणी-पदार्थकी प्राप्तिमें श्रम है। उसकी रक्षा करनेमें श्रम और दुःख है। परंतु उसको देखना, जानना, भोगना—इन्द्रियोंसे और मनसे होता है। इसलिये उनसे प्राप्त होनेवाला सुख इन्द्रियगम्य माना जाता है। यह प्राणी-पदार्थसे प्राप्त होनेवाला सुख भोगते समय अमृतके तुल्य लगता है। उसमें जीव लीन हो जाता है। इसके भोगकालमें जीवको विचित्र शान्ति और आनन्द प्रतीत होता है। परंतु उस भोगके अनुभवकालके पूर्व और पश्चात् तो श्रम, दुःख, चिन्ता और क्लेश ही रहते हैं। वह प्राणी-पदार्थ भोगके एक क्षणके लिये तो सुख देता है और भोगके पहलेके और पीछेके अनन्त क्षणोंके लिये, दीर्घकालके लिये अखण्ड दुःख देता है। इसलिये इन्द्रिय और मनके भोग पहले अमृत-जैसे और पीछे विष-जैसे हो जाते हैं। जैसे विष मिठाईमें मिले रहनेसे खानेमें मीठा लगता है और पचाने—हजम करनेमें दुष्कर तथा मृत्युदाता हो जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगकालमें अमृत-जैसे और परिणाममें विष-जैसे होते हैं। विष जीवनका नाश करता है। खूब विचार करने और अनुभव करनेसे जान पड़ता है कि प्रत्येक भोग जीवनका ही नाश करता है।

यह बात इस प्रकार समझमें नहीं आती। अन्तिम भोगका उदाहरण लीजिये। विषयभोग अति मात्रामें मिलनेपर उससे क्षय हो जाता है और रोगी मरता है। जो फल अति मात्रामें है, वह अल्पसे भी अल्प मात्रामें है। प्रत्येक विषयभोग शक्ति और प्राणका नाश करता है। यही बात दूसरे भोगोंकी भी है। भोगमात्र आयु और शक्तिका नाश करते हैं। यानी भोग विषवत् हैं। इसीसे भोग भोगकालमें अमृतवत् आनन्द देनेवाले जान पड़ते हैं और परिणाममें जीवन हरनेवाले विषरूप होते हैं। संसारमें जितने सब रोग हैं, संसारमें जितने सब दुःख, क्लेश, झगड़े हैं, उन सबके माँ-बाप ये भोग हैं। भोगोंका त्याग किये बिना अखण्ड सुख होता ही नहीं। भोगसुखके विषयमें अखा भगतने एक सरस दृष्टान्त दिया है—

अखा माया करे फजेत । खाताँ खाँड ने चावताँ रेत ॥

'अखा भगत कहते हैं कि माया फजीहत करती है। भोगते समय तो चीनीके समान मीठी लगती है, परंतु चबाते समय अनुभव होता है कि मैं रेत चबा रहा हूँ।

इससे विपरीत आत्मसुख है, जो पहले विषके सदृश लगता है; परंतु परिणाममें अमृतके समान जान पड़ता है।

आत्मसुख वह है कि जिसमें पहले लगता है कि इसमें क्या है। परंतु जैसे-जैसे उसका रस चक्खा जाता है, वैसे-वैसे आनन्द मिलता है। भोगसुख शुरूमें अमृतरूप और परिणाममें विषरूप कैसे है ! इसको अखा भगतने उपर्युक्त दोहेमें समझा दिया है।

अब आत्मसुख शुरूमें विषवत् और परिणाममें अमृत किस प्रकार होता है, यह बात इस लौकिक दृष्टान्तसे समझमें आ सकती है। कन्या माँ-बापके घरसे जब पहले-पहल अपने पतिके घर जाती है, तब पतिके घरका सुख उसे पहले विषवत् लगता है, पर जैसे-जैसे वह वहाँ रहने लगती है वैसे-वैसे ही पतिसुख छोड़नेका मन नहीं होता। सहवास बढ़नेपर पिताके घरका सुख विष-जैसा और पतिके घरका सुख उसको अमृत-जैसा लगता है।

चित्तका आत्मा पति है और विषय नैहर है। मैं आत्मा हूँ, यह भावना जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही चित्त आनन्दकी लहरोंमें स्नान करता है। यह आनन्द एक

अद्भुत आनन्द है। हठयोगकी समाधिका आनन्द तो कुछ भी नहीं है । जीते-जागते, जिसको दृढ़तापूर्वक यह ज्ञान और अनुभव होता है कि मैं नित्य आत्मस्वरूप असङ्ग चेतन हूँ, उसको जो अपार आनन्द होता है, उस आनन्दको वही जानता है ।

जब आत्मबुद्धि होती है, तब वह स्वतन्त्र होता है । वह ब्रह्माण्डके किसी भी प्राणी-पदार्थके परतन्त्र, दीन, अधीन नहीं होता । स्वयं सुखस्वरूप है । इसलिये वह किसीसे सुखकी इच्छा नहीं करता ।

गरीब, धनवान्, महाराजा, राजा, सम्राट्, देव, इन्द्र आदि चाहे जितने ऐश्वर्यसम्पन्न हों, यदि वे रात-दिन प्राणी-पदार्थोंसे सुखकी इच्छा करते हैं तो उनके हृदयमें सदा अशान्ति और संताप होता है । ब्रह्माण्डमें कोई प्राणी-पदार्थ ऐसे नहीं हैं कि जिनके मिल जानेपर दूसरी किसी वस्तुका मिलना बाकी न रह जाता हो और जबतक किसी वस्तुका प्राप्त करना बाकी रहता है, तबतक अशान्ति और असुख ही रहता है । जिसको कुछ प्राप्त करना नहीं है, वह सदा आनन्दमें रहता है । शरीरबुद्धि या जीवबुद्धिमें प्राप्त करना रहता है । आत्मबुद्धिमें कुछ भी प्राप्त करना नहीं रहता, क्योंकि वह पूर्ण है और उससे अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उसे सुख प्रदान करे । आत्मा अविनाशी है, अविकारी है और इस कारण जगत्के असंख्य विनाशी और विकारी पदार्थोंसे असंख्य गुना अमूल्य और सर्वथा विलक्षण है । पत्थरकी स्त्रीकी पुतलीकी अपेक्षा जैसे सच्ची स्त्री असंख्य गुना मूल्यकी और सर्वथा विलक्षण होती है, उसी प्रकार सारे विनाशी ब्रह्माण्डकी अपेक्षा हमारा अविनाशी आत्मा अनन्त मूल्यवान् और विलक्षण है । जैसे पीपलको जितना ही घोंटा जाता है, वह उतनी ही गुणप्रद होती है, इसी प्रकार मैं आत्मा, असङ्ग, चेतन हूँ—यह जैसे-जैसे निश्चय होता जाता है, वैसे-वैसे ही आनन्दका अनुभव होता जाता है । हरिः ॐ तत्सत्

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(८३)

वृन्दाकाननके ये स्रोत शुष्कप्राय हो चुके थे । ग्रीष्मके आतपका तो मिस था, वास्तवमें नीलसुन्दर इस दिशामें कुछ दिनोंसे गोचारण करने नहीं पधारे, उन्होंने इनमें अवगाहन नहीं किया; उनके चरण-सरोरुहका स्पर्श इन्हें प्राप्त नहीं हुआ । इसीलिये इनकी लहरियाँ शान्त हो गयी थीं । अपनी सीमामें ये क्रमशः संकुचित होते जा रहे थे । श्रीकृष्णचन्द्रके अदर्शनकी ज्वाला इनके हृदयके रसको जला रही थी । अन्यथा वृन्दावनमें ग्रीष्म भी आता है सबका सुखवर्धन करने; प्रपातोंके कलकल-नादका, स्रोतोंकी झर्-झर् झंकृतिका विराम यहाँ कदापि नहीं होता । दूसरे ही नीलसुन्दरका वंशीरव इन्हें उनका आगमन सूचित कर देता है और ग्रीष्मके मध्याह्नमें भी ये हँस-हँसकर अपने प्राणोंके देवताका स्वागत करनेके लिये मनोरम साजसे सज्जित हो उठते हैं । किंतु जब प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आये नहीं, आज नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन भी उनकी वंशीध्वनि काननके इस अंशमें प्रतिनादित नहीं हुई, तब फिर स्रोत किस उद्देश्यसे प्रसरित हों; उनके हृदयकी ऊर्मियाँ किसके चरण-प्रान्तमें न्यौछावर हों । वे तो क्रमशः क्षीण होंगे ही ।

हाँ, अब जब एक ओर पावसकी घटाएँ अम्बुराशि दान करने आयी हैं, कर रही हैं और इधर नीलसुन्दर उल्लासमें भरकर, वर्षाकी सम्पूर्ण शोभा निहारनेकी इच्छासे वनके मानो प्रत्येक भागमें ही भ्रमण कर रहे हों, तब फिर इन स्रोतोंमें अपरिसीम उल्लासका संचार क्यों न हो ! अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर ये भी व्रजपुरकी वीथियोंकी ओर क्यों न दौड़ चलें ! पथ-अपथका विचार तो तभीतक है जबतक व्रजेन्द्रनन्दन दृष्टिपथमें नहीं आते, उनका वेणुनाद कर्णपुटोंमें प्रविष्ट

नहीं होता। जब उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामल कान्ति नेत्रोंमें पूरित हो जाती है, वेणुकी लहरी श्रवणपथसे हृदयको सिक्त करने लगती है, फिर विचारके लिये अवकाश नहीं रहता। इसीलिये अतिशय वेगसे ये भागे जा रहे हैं; कहाँ, किस ओर जा रहे हैं, जाना चाहिये या नहीं, इसका भी भान इन्हें नहीं रहा है। अवश्य ही अपनी जानमें तो ये नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें ही प्रसरित हो रहे हैं। किंतु प्रपञ्चके जीवो! तुम्हारे लिये तो ये कुछ और ही संदेश दे रहे हैं। उसे हृदयमें धारणकर कदाचित् ऊपर उठ सको तो अवश्य उठ जाना, व्रजेशतनयकी ओर बह चलना। देखो, तुम्हारे यहाँ—इस प्रपञ्चमें क्या होता है?

ग्रीष्मके समय क्षुद्र स्रोतस्विनी स्रोत—सभी क्षीण हो जाते हैं; वह वेग, वह चञ्चलता उनमें नहीं होती। किंतु जब पावसकी अजस्र धाराएँ उनके हृत्तलको परिपूर्ण कर देती हैं, तब वे सहसा उच्छृङ्खल हो उठते हैं, पथकी मर्यादाको तोड़कर वे विपथगामी हो उठते हैं—ठीक उनकी भाँति जिन्होंने देहको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है, मनके संकेतपर ही जो सतत नाचते रहते हैं, इन्द्रियाँ जिन्हें बरबस विषयोंकी ओर भगाये लिये चलती हैं, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निर्णय करनेवाली बुद्धि जिनकी सोयी रहती है। स्पष्ट देख सकते हो, तनिक भी ध्यान देते ही उन देह-इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले प्राणियोंकी अवस्था सामने आ जायगी। देखो, जबतक उनके शरीरमें शारीरिक शक्तिका, दैहिक ओजका अभाव रहेगा—यौवनके मदसे वे परिव्याप्त नहीं रहेंगे; धन-सम्पत्तिके लाले पड़े रहेंगे; इनके मदसे उनकी आँखें चौंधी हुई न रहेंगी, तबतक उनका जीवन नियन्त्रित रहता है, मर्यादाका उल्लङ्घन वे नहीं करते। किंतु कहीं दैवका विधान परिवर्तित हुआ, शरीरमें बल-वीर्यका संचार हो गया, अनर्गल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति हो गयी, फिर तो क्या कहना है—वे न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। मर्यादा टूट जाती है, सुमार्ग छूट जाता है और निर्बाध स्वच्छन्द कुमार्गपर अग्रसर होते हैं वे। अपने-आप भी नष्ट होते हैं और न जाने कितनोंके नाशका हेतु बनते हैं। वर्षाकालीन क्षुद्र नदियोंकी भी यही दशा है। ग्रीष्मके आतपमें जलके अभावसे मर्यादामें रहती हैं, जलमदका प्रवाह उनमें नहीं होता, पर पावसका संयोग होते ही उमड़ चलती हैं, विपथगामिनी होकर कितनोंको ध्वंस कर देती हैं। नीलसुन्दरके विहारस्थलके स्रोत उमड़कर भी किसीको ध्वंस नहीं करते, अपथसे चलकर भी, अत्यन्त वेगसे बहकर भी वे प्रक्षालित करते हैं व्रजेन्द्रनन्दनके चरण-नखचन्द्रको ही। किंतु अपने पुनीत प्रवाहके अन्तरालसे जगत्के देहाभिमानी जीवोंके लिये कितना सुन्दर पाठ दे रहे हैं वे!—

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः॥
(श्रीमद्भा० १०। २०। १०)

पाछे सुकी हुतीं जे सरिता। उत्पथ चलीं बहुत जल भरिता॥
अजितेंद्रिय नर ज्यौं इतराइ। देह, गेह, धन, संपति पाइ॥

एक ओर हरित तृणोंका अम्बार लगा है; हरीतिमा लहलह कर रही है। कहीं यूथ-की-यूथ वीरबहूटियोंका साम्राज्य है; उनसे अभिनव लालिमा छायी हुई है। फिर कहीं बरसाती छत्ते असंख्य वितान-से बनकर अगणित विश्रामागारोंके समान उज्ज्वल आभाका दान कर रहे हैं। इस प्रकार हरित, अरुण एवं समुज्ज्वल ज्योतिसे विभूषित धरणीकी छटा निराली बन गयी है—मानो धराके वक्षःस्थलपर किसी सम्राट्की सेना फैली हुई हो, उनके श्वेत-लोहित आदि वर्णोंके अगणित पटगृह सुशोभित हो रहे हों। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दनके स्वागतके लिये ही तो यह साज-सज्जा प्रस्तुत हुई है; उनकी अनन्त श्रीका प्रकाश ही तो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है—

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्॥
(श्रीमद्भा० १०। २०। ११)

बुड़ी छड़ी जु हरित भई धरनी। उछिलींध्र छबि फबि हिय हरनी॥

जनु कोउ भूपति उतरयौ आइ । छत्र तनाइ, बिछौन बिछाइ ॥

× × ×

नव अंकुर संकुलित भूमितल ललित कलित हरियाहीं ।
जिमि सुकृतिन के पुन्य पुराकृत दिन प्रतिदिन अधिकाहीं ॥
हरित भूमिपर इंद्रबधू छबि छत्रक दंड बिराजै ।
जिमि नरनाह राजसी राजति सुंदर सुखमा साजै ॥

उधर देखो—गोपकृषकोंका मन कितने उल्लाससे भरा है । उनके खेतोंमें नवधान्यकी सम्पदा जो लहलहा रही है तथा उस ओर कंस नृपतिके उन राक्षस सामन्तोंमें इसे देखकर कैसी ज्वाला फूट रही है; व्रजपुरवासियोंका यह अभ्युदय उनके प्राणोंको कैसे कुरेद रहा है। क्या करें बेचारे; दैवकी गतिसे वे परिचित जो नहीं । वे नहीं जानते—किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन उन गोपोंके स्वामी हैं । वे जहाँ विराजित रहेंगे, वहाँ सर्वथा-सर्वदा आनन्दसिन्धु उद्वेलित रहेगा । और उनका अधिपति है कंस । जहाँ उसकी छत्र-छाया है, वहाँ विषाद-वेदनाकी भट्ठी निरन्तर सर्वत्र धक्-धक् जलती ही रहेगी—

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १२)

निपजे छेत्र कातुनी धान । तिनहिं निरखि हरखे जु किसान ॥
धनी लोग उपतापहिं जाहीं । दैवाधीन सु जानत नाहीं ॥

इस पावसके समय व्रजपुरके सभी जलज-स्थलज जीव प्रसन्न हो रहे हैं । सबकी मूर्ति प्रफुल्ल हो गयी है; अतिशय सुन्दर रूप धारण किया है सबने ही । कहनेके लिये तो यह है कि इन्होंने वर्षाकालीन नव वारिका पान किया है, इसीलिये इतने उल्लसित हो रहे हैं । संसारतापदग्ध प्राणी जैसे श्रीहरिके चरणोंका सेवन कर उत्फुल्ल हो उठते हैं, उनका बाहर-भीतर—सब कुछ सुन्दर बन जाता है, ऐसे ही ये जलचर-थलचर पावसका नवीन जल पीकर सुन्दर बन गये हैं । पर सच तो यह है कि कब इनके अप्रतिम सौन्दर्यका ह्रास हुआ था ? जिनपर नीलसुन्दरकी सलोनी दृष्टि पड़ती है, वे कब म्लान होते हैं ? अवश्य ही जैसे श्रीकृष्ण-चन्द्रके नेत्र-सरोजोंकी सुषमा प्रतिक्षण नवनवायमान रहती है, वैसे ही उनकी सुधादृष्टिसे सिक्त समस्त वस्तुओंका सुन्दर रूप भी नित्य नूतन बनता रहता है । यह तारतम्य भले कोई कर ले । हाँ; यह इङ्गित इनसे अवश्य प्राप्त हो रहा है—'जगत्‌के जलज-स्थलज प्राणियो ! सुनो, मेरी भाँति सुन्दर बनना चाहो तो तुम भी इन नवजलधर श्यामचन्द्रका सेवन करो । संसारकी भीषण ज्वालासे निरन्तर जलनेके कारण तुम्हारा सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, तुम अत्यन्त कुरूप बन गये हो । बस, पान कर लो इन नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके कण-कणसे झरते हुए पीयूषके एक कणको । फिर तुम्हारा रूप नित्य एवं अपरिसीम सुन्दर बन जायगा । देखो, नव वारिके बिना वृक्ष आदिमें सौन्दर्यका विकास असम्भव है; वैसे ही त्रिताप-संतप्त जीव कदापि इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दनके सम्पर्कमें आये बिना शीतल होता ही नहीं, उसमें वास्तविक सुन्दरता आती ही नहीं—

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १३)

जलके, थलके बासी जिते । जल-सोभा करि सोभित तिते ।
जैसैं हरि-सेवा करि कोई । रुचिररूप अति राजत सोई ॥

और भी देखो, जानते हो कलिन्दनन्दिनीका प्रवाह किधर किस ओर जा रहा है, क्यों इसमें इतनी ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठ रही हैं ? अच्छा सुनो, अन्तर्दृष्टिसे देखो, उद्वेलित प्रवाह पहले सुरसरिसे सङ्गमित हो जाता है । फिर दोनोंकी एकीभूत धारा सागरका आलिङ्गन कर रही है । सागर इस परम पावन स्पर्शसे कृतार्थ हो रहा है । आनन्दातिरेकसे उसके श्वास फूल रहे हैं, बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं उसमें, उसने तपनतनयाके हृदयमें संचित श्रीकृष्णचरणसरोरुहका पराग जो पा लिया, नहीं-नहीं, पावसके इस प्लावनमें व्रजपुरकी धराके राशि-राशि रजकण बटोरकर, रविनन्दिनी ले आयी हैं । सागरको यह अप्रतिम निधि अपने-आप प्राप्त हो गयी है—वह निधि जिसके लिये पितामह तरसते

रहते हैं। स्वयं यमुना जब इन रजकणोंको बटोरने लगती हैं, मर्यादा तोड़कर जब काननकी उन पगडंडियों-को, निम्नदेशमें अवस्थित पुरवीथियोंको जिनपर व्रजपुर-वासी अपना पग रखते हैं—धोने लगती हैं, उस समय उनका आनन्दविवश हृदय—हृदयका सम्पूर्ण रस उच्छ्वलित हो उठता है। यह रस ही तो इनकी विशाल ऊर्मियोंके रूपमें व्यक्त हो रहा है और फिर बड़े वेगसे सागरको भेंट समर्पित करनेके लिये वहन किये जा रही हैं व्रज-पुरवासियोंके, गोपशिशुओंके, व्रजदम्पतिके; व्रजाङ्गनाओं-के चरणपद्मोंका पराग। कितना अचिन्त्य सौभाग्य है इनका और सागरका। इसीलिये तो सागर भी उन्मत्त हो उठा है! अब यदि समझ सकते व्रजरजकी महिमा-को तो तुम्हें भी भान होता—यह आनन्द कैसा होता है। किंतु तुम्हारा मन तो कामना-वासनासे युक्त है, नेत्रोंपर घना आवरण है इनका। कैसे हृदयङ्गम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्दको। हाँ, अपने अधिकारके अनुरूप इसकी ओटसे एक संकेत प्राप्त कर लो, बड़ा लाभ होगा तुम्हारा। इस पाठको सामने रखकर अग्रसर होना, फिर पथभ्रान्त नहीं होओगे। देखो, सागर स्थिर है, फिर भी वर्षाकालीन नद-नदियोंका उद्दाम प्रवाह, पावसका झंझावात इसे विक्षुब्ध कर देता है—ठीक उसी प्रकार जैसे अविशुद्धचित्त योगियोंका विविध वासना-बीजयुक्त चित्त विषयोंके सम्पर्कमें आते ही चञ्चल हो उठता है। कदाचित् वे सावधान होते, विषयोंका सम्बन्ध परित्यागकर, यथायोग्य साधनानुष्ठान-में संलग्न होते तो क्रमशः इन वासनाओंका विनाश हो जाता, नीलसुन्दरकी चरणनख-चन्द्रिकासे उनका अन्तस्तल उद्भासित हो उठता; किंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं होता, मायाके चाकचिक्यमें वे साधना-नुष्ठानका पथ भूल जाते हैं, विषयोंका सम्बन्ध होने लगता है। फिर तो आन्तरिक सुप्त वासनाएँ जाग उठेंगी ही, चित्त विक्षुब्ध होकर ही रहेगा। इसके कितने उदाहरण तुम्हारे सामने ही होंगे। परमार्थ-जीवनका आरम्भ कितना त्यागमय था। एक दिन हिमाचलकी शान्त कन्दरामें निवास था, उस अकिंचन जीवनमें कामनाएँ स्वप्नमें भी नहीं स्पर्श करती थीं। उत्कट वैराग्यकी आगमें मानो संसार स्वाहा-सा हो चुका था; किंतु भक्त दर्शन करने आये, उनकी एकान्त प्रार्थनासे उनके गृहकुटीरको पवित्र करनेकी शुद्ध वासना जाग उठी और फिर शैलेन्द्रकी शरण त्यागकर भक्तके उद्यानमें, एक शान्त कुटियामें निवास हुआ। अब भक्तोंकी और भीड़ बढ़ी। प्रत्येक भक्तका मनोरथ पूर्ण करना भगवत्सेवा प्रतीत होने लगी। उनकी मनुहार स्वीकार करना कर्त्तव्य बोध होने लगा। भू-शयन छूटा, कन्था छूटा, कन्द-मूल-वन-फलका आहार छूटा और उसके स्थानपर आयी मनोरम सुकोमल शय्या, क्षौमनिर्मित उत्तरीय एवं अधोवस्त्र, विविध चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयका सुखद भोग। कहाँ तो अङ्गोंमें शीतजन्य चिह्न अङ्कित हो गये थे, धूलिधूसरित रहते थे वे, और अब कहाँ सम्पूर्ण अवयव सुचिक्कण हो गये। ग्रीवामें भक्तोंके द्वारा अर्पित पुष्पहार सुशोभित हो उठा! ऐसी स्थितिमें पावसके समुद्रकी जो दशा होती है, वही चित्तकी हो जाती है। अतएव सावधान रहना भला! नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंमें जबतक तुम्हारा चित्त मिल न जाय, व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त कुछ भी स्फूर्ति हो रही हो, तबतक विषय-सम्बन्धसे दूर-दूर रहना। चित्तमें अविराम अङ्कित करते रहना उस इन्द्रनीलद्युति छविको ही! उस नीलिमाके अतिरिक्त बाहरका कुछ भी स्वीकार न करना। कलिन्दनन्दिनी, सुरसरि एवं सागरके सङ्गम-की ओटमें व्यक्त हुआ यह पाठ—शिक्षा क्षणभरके लिये भी भूल न जाना!—

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १४)

सरित-संग करि छुभित जु सिंधु। उमगि ऊरमी, ह्वै गयौ अंधु॥
यौं अपक्व जोगी चित धाइ। विषयन पाइ भ्रष्ट ह्वै जाइ॥

मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी

(लेखक—परशुरामपुरीस्थ श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु 'श्रीश्रीजी' श्रीराधा-सर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

राधापते ! नन्दतनूज ! कृष्ण !
गोविन्द ! गोपाल ! मुकुन्द ! मित्र !
गोपीश ! वृन्दावनरासलासिन् !
जिघ्रात आर्तस्वरतस्स्फुरत्वम् ॥
(श्रीऔदुम्बराचार्यजी)

आजसे हजारों वर्ष पूर्वका वृत्तान्त है जब कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सच्चिदानन्दघन, दिव्यमङ्गल-विग्रह, आनन्दकन्द नन्दनन्दन, श्रीश्यामसुन्दरके परम-प्रिय आयुध कोटिसूर्यसमप्रभ चक्रराज श्रीसुदर्शन श्रीप्रभुसे समादिष्ट हो भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यके रूपमें इस अवनितल-पर अवतरित होकर सद्धर्मका प्रचार-प्रसार कर रहे थे ।

इन्हीं भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके अभिनव वपु चक्रावतार श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्रके अनेकों शिष्योंमेंसे प्रमुख दो शिष्य थे—प्रथम पाञ्चजन्य शङ्खावतार भाष्यकार श्री-निवासाचार्यजी तथा द्वितीय मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी। श्रीनिम्बार्क भगवान्के अन्तर्हित होनेपर आचार्य-पदपर भाष्यप्रणेता श्रीनिवासाचार्यजी अभिषिक्त हुए और ये औदुम्बराचार्यजी अपना अधिक समय तीर्थ-सेवन, भगवदाराधन तथा सनातन धर्मके विपुल प्रचारमें लगा-कर श्रीभगवत्संनिधिको प्राप्त हुए ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जीवनगाथा बड़ी ही विलक्षण, चमत्कारपूर्ण तथा विस्मयोत्पादक है । ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे, अन्य प्राणियोंकी भाँति इनका उत्पत्ति-वृत्तान्त नहीं मिलता, ये उदुम्बर (गूलर) वृक्षके फलसे प्रकट हुए थे, इसीसे औदुम्बराचार्य नामसे विख्यात हुए । इनके प्रकट होनेकी यह पुण्यप्रद गाथा बड़ी ही सुन्दर उत्कृष्ट तथा इनकी विलक्षणताको अभिव्यक्त करनेवाली है ।

एक समय सनातनधर्म-प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए किसी एकान्त स्थलमें श्रीभगवदाराधनमें स्थित श्रीनिम्बार्क भगवान्पर अविद्याग्रसित खलसमूहने आकर उपद्रव करना आरम्भ किया । उनके चारों ओर उन दुष्टोंने भयंकर अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, पर श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र तनिक भी भयाकुल नहीं हुए । वे उस समय उस गूलर वृक्षके नीचे श्रीसनकादि महर्षियों-द्वारा परिसेवित अतिप्राचीन गुञ्जाफल-सदृश अतिसूक्ष्म श्रीशालिग्रामविग्रह श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी सेवामें तल्लीन थे । अकस्मात् जिस गूलर वृक्षके नीचे आप विराजमान थे, उसका एक परिपक्व फल श्रीआचार्यचरणोंके संनिकट आ गिरा और आपके पावनतम चरणनखका स्पर्श होते ही वह फल एक दिव्याकृति तथा अमित प्रभावपूर्ण श्रीनिम्बार्काचार्यजीके सदृश ही गुण-रूपवान् परम सुन्दर पुरुषके रूपमें प्रादुर्भूत हो गया । इस परम विलक्षण चमत्कारको देखकर खलसमूह भयभीत हो तुरंत ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे कि सूर्यके उदय होते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजी प्रकट होकर श्रीनिम्बार्क भगवान्के अनिर्वचनीय दिव्यस्वरूपका दर्शन कर उनके अद्भुत प्रभावका अनुभव करने लगे । श्रीनिम्बार्क भगवान्ने इनको भ्रमण-कालमें अपने साथ ही रक्खा । कुछ दिनों बाद जब ये अपनी परम प्रिय व्रजधाम श्रीगिरिराज गोवर्द्धनकी तरेटी (निम्बग्राम) तपस्थलीमें, जहाँ तपश्चर्या करते थे, औदुम्बरमुनिसहित पधार आये, तब मुनिवर भी उनकी सेवामें यहीं रहने लगे ।

इस उपर्युक्त पुण्यगाथाका संक्षिप्त उल्लेख स्वयं श्रीऔदुम्बराचार्यजीने स्वरचित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति' नामक ग्रन्थमें भी इस प्रकार किया है—

यत्स्पृष्ट आत्मीयसखो बभूव
औदुम्बरो जन्तुरिवात्मरूपः ।
कृष्णस्य यद्वत्कलासर्पौ
गन्धर्वमुख्यावतिचित्ररूपौ ॥
श्रीधर्मसूनोरिव सर्पराजो
समस्य यद्वच्च शिला त्वहल्या ।

देदीप्यमाना सुविमानविष्टा
तस्मै नमस्ते समरूपदात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ९०-९१)

'जिस प्रकार भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके चरणारविन्दोंके संस्पर्शसे गिरगिट और सर्प---ये दोनों क्रमपूर्वक नृपति एवं गन्धर्व बनकर सम्मुख स्थित होकर स्तुति करने लगे थे तथा महाराज युधिष्ठिरके चरणस्पर्शसे सर्प और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणारविन्दकी परमपावनी रजके स्पर्शसे शिला---ये दोनों क्रमशः दिव्याकृति मनुष्य तथा ऋषि-पत्नी अहल्याके रूपमें प्रादुर्भूत हो स्तुति कर विमानोंमें स्थित होकर दिव्य स्वरूपको प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार ऊपरसे पड़ा हुआ गूलरका फल आपके पादपद्मोंका स्पर्श होते ही अपने ही रूप और आकृतिके समान रूप तथा आकृतिमान्, आपका कृपापात्र औदुम्बराचार्य (मैं ग्रन्थप्रणेता) अकस्मात् आविर्भूत हुआ। इस साधारण तुच्छ जड पदार्थको अपने ही सदृश स्वरूप-प्रतिभादि प्रदान करनेवाले आपके पादपद्मोंमें मैं नमस्कार करता हूँ।'

यद्यपि श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जन्मतिथि, मास, वर्ष एवं आयु और उनके पावनतम जीवन-चरित्रका विशेष वृत्त समुपलब्ध नहीं है; क्योंकि आचार्य-उत्सव उन्हीं आचार्यचरणोंका मनाया जाता है, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यपीठासीन होते आये हैं। श्रीऔदुम्बराचार्यजी आचार्य पीठारूढ नहीं हुए थे, इसीलिये उनके जन्मोत्सव आदिका पूरा वृत्त आजतक प्राप्त नहीं हो सका है तथापि उनके निजनिर्मित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' ग्रन्थसे यह अवश्य निश्चयात्मक रूपसे ज्ञात होता है कि ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे तथा उन्हीं सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान्के तेजःपुञ्जविशेषांश थे, अतएव बिना ही अध्ययन किये निखिल निगमागमके पूर्ण ज्ञाता, आत्म-परमात्म आदि तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाले उद्भट विद्वान् थे।

ये औदुम्बराचार्य जिस प्रकार सहसा प्रकट हुए उसी प्रकार तत्क्षण ही तिरोहित नहीं हुए, इन्होंने बहुत समयतक श्रीनिम्बार्क भगवान्की सेवामें रहकर तथा भारतके अनेक पुनीत स्थलोंपर परिभ्रमणकर सनातन धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरायी, बहुत-से स्थानोंपर तो प्रतिमापूजन-प्रणालीकी सुदृढ़ताके लिये बड़े-बड़े भव्य मन्दिरोंका निर्माण करवाकर श्रीभगवत्प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करायी। इन्होंने जिन मन्दिरोंका निर्माण करवाया था, वे सब इस समय उपलब्ध नहीं हैं, केवल कुरुक्षेत्रके सन्निकट 'पपनावा' नामक ग्राममें एक मन्दिर अद्यावधि भी विद्यमान है। यदि अन्वेषण किया जाय तो इनके द्वारा निर्माण कराये गये मन्दिर तथा इनका विशद जीवन-चरित्र भी सम्भवतः प्राप्त हो सकता है। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थोंका भी प्रणयन किया है। 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' 'श्रीऔदुम्बरसंहिता' आदि ग्रन्थ तो सम्प्राप्त हैं। प्रथम ग्रन्थमें इन्होंने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीसर्वेश्वर श्यामसुन्दरकी जो बड़ी ही सुन्दर रसमयी वन्दना की है, उसे यहाँ उद्धृत करते हुए इस चरित्रको यहीं समाप्त करते हैं—

मत्स्याय कूर्माय वराहभासे
श्रीनारसिंहाय च वामनाय।
आर्षाय रामाय रघूत्तमाय
भूयो नमस्त्वेव यदूत्तमाय ॥
बुद्धाय वै कल्किन एवमादि-
नानावतारौघधराय नित्यम्।
सञ्चिन्त्यशक्तिप्रतिरुद्धधाम्ने
कृष्णाय सर्वादिनिधानधात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ५-६)

'श्रीमत्स्य, श्रीकूर्म, श्रीवाराह, श्रीनृसिंह, श्रीवामन, श्रीपरशुराम, श्रीदाशरथि राम, श्रीबलराम, श्रीबुद्ध, श्रीकल्कि आदि अवतारोंके उद्गमस्थान तथा बुधजनविचिन्त्य निज अद्भुत अनिर्वचनीय शक्तिसे परम गूढ़ महिमावाले एवं समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके करनेवाले ईश्वरोंके भी ईश्वर सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीनन्दनन्दनको बारंबार प्रणाम है।'

सात्त्विकी बुद्धि

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे बहुत लोग श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन, पठन तथा श्रवण करते हैं, यह बड़े ही आनन्दकी बात है; पर उसके श्लोकोंका हम मनन करें और इस बातको समझें कि हमारे जीवनके साथ किस श्लोकका क्या सम्बन्ध है और हम अपने जीवनको वर्तमानमें ही किस प्रकार भगवान्‌के उपदेशानुसार सफल बना सकते हैं, तब उसका हम पूरा लाभ उठा सकते हैं। इसी भावसे प्रेरित होकर मैं आपसमें इस प्रकार विचार-विनिमय करनेके रूपमें एक श्लोकपर अपने विचार पाठकोंके सामने रख रहा हूँ। आशा है कि गीतास्वाध्यायी सज्जनगण इसके उत्तरमें अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करेंगे और मेरी गलतियोंको क्षमाकर उनका सुधार करनेके लिये उचित परामर्श देंगे। मेरा अनुमान है कि इस प्रकार परस्पर विचार-विनिमयसे साधकोंको लाभ होगा। श्लोक इस प्रकार है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८। ३०)

अर्थात् 'जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कार्य और अकार्यको, भय और अभयको एवं बन्धन और मोक्षको जानती है, वह सात्त्विकी है।'

इस श्लोकमें चार युग्मोंमें आठ बातें जानने योग्य बतलायी गयी हैं और इनको जाननेवाली बुद्धिको सात्त्विकी कहा गया है। विषयके आरम्भमें यह बात भी भगवान्‌ने कह दी है कि बुद्धिके भेद मैं तुम्हें अशेषतासे अर्थात् पूर्णतासे कहूँगा, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वर्णन संक्षिप्त है।

इससे यह मान लेना होगा कि सात्त्विकी बुद्धिके द्वारा जो कुछ जानना चाहिये और जो कुछ भी जाना जा सकता है, वह इन्हीं आठ भेदोंके अन्तर्गत आ जाना चाहिये। इस दृष्टिसे तो इस श्लोकके भावकी व्यापकता बहुत अधिक हो जाती है, पर मैं अपने विचार संक्षेपमें ही प्रकट करता हूँ। पाठकगण इन्हें संकेतमात्र मानकर समझनेकी चेष्टा करें, यही मेरी विनयपूर्वक प्रार्थना है। पहला युग्म है—

प्रवृत्ति और निवृत्ति

हरेक व्यक्तिके जीवनमें कभी प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति प्रतिदिन होती रहती है। किसी कार्यमें लगे रहना प्रवृत्ति है और कोई काम न करना ही निवृत्ति है, यह सभी जानते हैं; किंतु इन दोनोंका जो सात्त्विकी बुद्धिद्वारा जानना है, वह ऐसा जानना नहीं है। वह है इन दोनोंका सदुपयोग करके अपने जीवनको हरेक अवस्थामें साधनसम्पन्न बनाये रखना अर्थात् इनका यथार्थ जानना। अतः हमें जानना चाहिये कि प्रवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार अपने जीवनको सार्थक बनाया जा सकता है और निवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार?

साधारण व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति किसी-न-किसी कामनाकी पूर्तिके लिये ही हुआ करती है। उसके अन्तमें शक्तिका ह्रास होता है, मिलता कुछ भी नहीं; क्योंकि अभावका अभाव नहीं होता। प्रवृत्तिमें आसक्ति होनेके कारण परतन्त्रता और जडताकी अनुभूति होती है। उस कामनायुक्त प्रवृत्तिके अन्तमें जो स्वाभाविक निवृत्ति आती है, उससे शक्तिका संचय तो होता है, पर उसके होते ही प्राणी आसक्तिके कारण या तो परिस्थितिके चिन्तनमें या पूर्ववत् प्रवृत्तिमें लग जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिका चक्र चलता रहता है। इसके परिणाममें शान्ति नहीं मिलती। इस अनुभूतिका आदर करनेसे साधकके मनमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे अतीतके जीवनकी आवश्यकता और उसे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् होती है। उसकी पूर्तिके लिये साधकको चाहिये कि प्रवृत्ति और निवृत्तिका सदुपयोग करके उन दोनोंके रागका अन्त कर दे।

विचार करनेपर जान पड़ता है कि अपनी-अपनी योग्यता, विश्वास और साधननिष्ठाके अनुसार इनके सदुपयोगमें अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं, पर यह सभीको मान्य होगा कि साधककी प्रत्येक प्रवृत्ति उसे अपने साध्यकी ओर ले जानेवाली, प्रवृत्तिकी आसक्तिको मिटानेवाली और सर्वहितकारी होनी चाहिये। ऐसी किसी भी प्रवृत्तिके लिये साधकके जीवनमें स्थान नहीं है जिससे कर्म करनेकी आसक्ति बढ़े, जो किसी भी अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिविषयक या प्रतिकूल

परिस्थितिकी निवृत्तिविषयक किसी प्रकारकी भोगवासनाको बढ़ानेवाली हो अथवा जिसमें किसीका अहित भरा हो । अतः प्रवृत्तिका सदुपयोग करनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि जब साधकके मनमें कोई काम करनेका संकल्प उठे, तब तत्काल यह विचार करे कि मेरी जो मान्यता है, जिस वर्ण, आश्रम, विचारधारा और धर्मको मैंने स्वीकार किया है, जिन व्यक्तियोंके साथ इस कर्मका सम्बन्ध है उनसे मैंने जो सम्बन्ध स्वीकार कर रक्खा है, मेरी उस स्वीकृतिके अनुरूप मेरे लिये जो विधान है उसमें इस कर्मके लिये स्थान है या नहीं । विचार करनेपर यदि यह निर्णय हो जाय कि यह कर्तव्य है, इसमें किसीका अहित नहीं है अपितु दूसरोंके अधिकारकी रक्षा है तो उस कामको प्राप्त विवेकके प्रकाशमें बड़ी सावधानीके साथ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी दी हुई सामर्थ्य-सामग्रीसे उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार पूरा करके रागसे रहित हो जाय । उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा या कामना न करे तथा किसी प्रकारके अभिमानको भी स्थान न दे । इस प्रकार किये हुए कर्मका स्वरूप बाहरी दृष्टिसे प्रवृत्ति होनेपर भी उसका परिणाम वही होगा, जो अच्छी-से-अच्छी वासनारहित निवृत्तिके सदुपयोगसे होना चाहिये ।

इसी प्रकार जब साधक कर्तव्यकर्मसे निवृत्त हो, जब उसे कोई भी कर्म कर्तव्यरूपमें प्राप्त नहीं हो, उस समय न तो मनमें व्यर्थ संकल्पोंका उदय होने दे और न बुरे संकल्पोंका ही । जो संकल्प उठें, उनमें जो उस समय पूरा करनेका हो उसे तो पूरा करके मिटा दे, जो भविष्यमें करने योग्य हो उसको नोट करके मिटा दे और जो व्यर्थ हो उसे विचार-के द्वारा मिटा दे । इसके अतिरिक्त जो बुरे संकल्प हैं, जिनमें किसीके भी अहितकी भावना है उनके लिये तो साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है । उनकी तो उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिये । भावकी शुद्धिसे व्यर्थ और बुरे संकल्प अपने आप मिट जाते हैं । अतः साधकको अपना भाव शुद्ध करना चाहिये । अनावश्यक, व्यर्थ और बुरे संकल्प मिटते ही अपने इष्टकी स्वाभाविक मधुर स्मृति या सहज शान्ति प्राप्त होगी । उस निवृत्तिजनित सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये । ऐसा करनेसे इष्टकी स्मृति उसकी प्रीतिके रूपमें और शान्ति परम उपरतिके रूपमें बदलकर अपने इष्टसे मिला देगी । यही प्रवृत्ति और निवृत्तिको वास्तविक जानना है और यही उनका सदुपयोग है । दूसरा युग्म है---

कार्य और अकार्य

जो करने योग्य है, जिसके करनेका विधान है वह कार्य है और जो करने योग्य नहीं है, विधानमें जिसका निषेध है वह अकार्य है । यह कार्य और अकार्यका साधारण अर्थ है ।

अब विचार यह करना है कि साधकके लिये कौन-सा कर्म करने योग्य है और उसे किस भावनासे करना चाहिये तथा कौन कर्म करने योग्य नहीं है और उसको किस भावसे नहीं करना चाहिये । विचार करनेपर विदित होता है कि जो कुछ किया जाय, वह प्रभुकी अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकके प्रकाशमें किया जाना चाहिये । प्राप्त विवेकका अनादर कभी किसी भी परिस्थितिमें नहीं करना चाहिये । प्राप्त विवेक हमें यह सिखाता है कि हम जो कुछ अपने प्रति दूसरोंसे करवाना चाहते हैं, वही हमें दूसरोंके साथ करना चाहिये और जो हम दूसरोंसे नहीं चाहते, वह हमें भी किसीके साथ नहीं करना चाहिये । जैसे हम सम्मान चाहते हैं, तो हमें दूसरोंका सम्मान करना चाहिये, किसी-का भी अपमान नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार हरेक विषयमें समझ लेना चाहिये । यह नियम है कि दूसरोंके प्रति की हुई भलाई ही अपने प्रति कई गुनी अधिक होकर आती है और दूसरोंके प्रति की हुई बुराई ही अपने प्रति कई गुनी बुराई होकर आती है । दूसरोंके हितमें ही अपना हित निहित है; अतः ऐसा कोई भी काम किसी भी परिस्थितिमें साधकके लिये करने योग्य नहीं है जिसमें किसीका भी अहित होता हो । इस दृष्टिसे करने योग्य कर्म वही है जो हमारी मान्यताके अनुरूप, विधानके अनुसार हमारा कर्तव्य हो, जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमें प्राप्त हो और जिसके करनेकी वर्तमानमें ही आवश्यकता हो तथा जो सर्वहितकारी हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो । भाव यह कि प्राप्त शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता आदिका सदुपयोग ही कार्य अर्थात् कर्तव्य है । जैसे वाणीको प्रिय, हितकर और सत्य भाषणमें तथा प्रभुके नाम-जप, कीर्तन, उनके गुणोंके और चरित्रोंके वर्णन करनेमें लगाना, शरीरको दुखियोंकी सेवामें लगाना, मनको प्रभुके स्मरणमें लगाना और बुद्धिको हृदयसे असङ्ग होनेमें और भगवान्पर विश्वास करनेमें लगाना । इसी प्रकार हरेक इन्द्रियोंका, वस्तुका और योग्यता आदिका यथायोग्य उपयोग करना ही कार्य है । इन सब कामोंको भी निष्कामभावसे अर्थात् उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुखभोगकी इच्छा न रखकर प्रभुकी प्रसन्नताके

लिये उत्साह और धैर्यपूर्वक बड़ी सावधानीके साथ पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये; अवहेलनापूर्वक या उतावलेपनसे नहीं। इस प्रकार किया हुआ कर्तव्यपालन क्रियाशक्तिके वेगको तथा करनेकी आसक्तिको नाश करके साधकके चित्तको शुद्ध कर देता है। उसमें नवीन राग अङ्कुरित नहीं होने देता, अतः कालान्तरमें उस विषयके संकल्प नहीं उठते।

इसी प्रकार न करने योग्य कर्म वह है जो हमारी मान्यताके अनुसार हमारा कर्तव्य न हो। या जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमारे पास न हो अथवा करना आवश्यक न हो और जिससे किसीका अहित होता हो। ऐसे कामका त्याग भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होना चाहिये। उसमें न तो अपनेमें किसी गुणके अभिमान-को स्थान देना चाहिये, न द्वेषको तथा न सुखके लालचको या दुःखके भयको ही; क्योंकि अभिमान और द्वेषपूर्वक किये हुए त्यागके संस्कार भी अन्तःकरणको अशुद्ध करनेवाले और कर्ताको सुख-दुःखके जालमें आबद्ध करनेवाले ही होते हैं।

उपर्युक्त रहस्यको समझना ही कार्य और अकार्यको समझना है; क्योंकि इसीमें बुद्धिकी सार्थकता है। तीसरा युग्म है—

भय और अभय

अब विचार करना है कि 'भय' किसे कहते हैं, उसकी उत्पत्ति कहाँसे होती है और उसका नाश कैसे हो तथा 'अभय' क्या है, वह कब और किस प्रकार प्राप्त होता है; क्योंकि भय किसीको भी अभीष्ट नहीं है और अभय मानव-मात्रकी स्वाभाविक आवश्यकता है।

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि अनुकूल परिस्थितिके वियोगकी और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेकी शङ्का होनेपर जो मनमें क्षोभ होता है उसको भय कहते हैं। इसकी उत्पत्तिका कारण भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकका अनादर और वर्तमान परिस्थितिका दुरुपयोग ही है। या यों समझो कि किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिसे सुख-भोगकी आशा करना, उनको अपना मानना और उनके संयोग या वियोगकी इच्छा करना है। जब मनुष्य विवेकका अनादर करके शरीर-में 'मैं' भाव कर लेता है, शरीरको ही अपना स्वरूप मान लेता है, जो विचार करनेपर सर्वथा अपनेसे भिन्न वस्तु प्रत्यक्ष दिखलायी देता है; तभी वस्तु, व्यक्ति और अवस्था आदिके संयोग और वियोगमें सुखकी आशा और दुःखका भय उत्पन्न होता है। प्राप्त विवेकके प्रकाशमें विचार करनेपर यह सहज ही समझमें आ सकता है कि बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और इनका समूह यह शरीर मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये सभी परिवर्तनशील हैं और मैं नित्य हूँ। ये सब जाननेमें आनेवाले और परप्रकाश्य हैं, मैं इनको जाननेवाला और स्वप्रकाश हूँ। ये जड हैं और मैं चेतन हूँ। ये विनाशशील हैं और मैं अविनाशी हूँ। अतः न तो शरीरके साथ मेरे स्वरूपकी एकता है और न जातिकी ही। इस कारण इसका और मेरा किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यह न तो मैं हो सकता हूँ और न यह मेरा ही हो सकता है। जब शरीर ही मेरा नहीं हो सकता, तब अन्य वस्तु, व्यक्ति आदिसे मेरा किसी प्रकारका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है।

इस विवेकका आदर करनेपर जब साधक इन सबसे सर्वथा निराश हो जाता है। इनपर जो अविवेकपूर्वक विश्वास कर लिया था, इनको अपना मान लिया था, वह नष्ट हो जाता है, तब उसका अपने नित्य साथी परम सुहृद् भयहारी भगवान्‌पर संदेहरहित अविचल विश्वास हो जाता है। विश्वास होते ही सब प्रकारके भयका सदाके लिये नाश हो जाता है; क्योंकि जो अपना नित्य साथी है, जिसके साथ साधककी जातीय और स्वरूपकी एकता है, उसके सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेपर, उसको अपना मान लेनेपर प्रेमका प्राकट्य हो जाता है। फिर साधकको हरेकमें अपना प्रेमास्पद ही दिखायी देने लगता है, तब भय किससे और कैसे हो।

भयके अभावका ही नाम अभय है। साधारणतया मनुष्य प्राप्तबलके द्वारा भयका नाश करनेकी आशा और चेष्टा करता है, पर वास्तवमें सफल नहीं हो सकता। तथापि यह अभिमान कर लेता है कि 'मैं अभय हो गया हूँ, मुझे अमुक सामर्थ्य प्राप्त है। अतः मुझे किसीसे भी कोई भय नहीं है।' उस समय वह यह नहीं सोच सकता कि उस अभिमानके रहते हुए मैं अभय कैसे हो सकता हूँ जो भयका मूल है। यह भी नहीं समझता कि जिन वस्तु, व्यक्ति आदिके सम्बन्धसे भय उत्पन्न हुआ है एवं जिनका वियोग अनिवार्य है उनके बलपर भला कोई अभय हो ही कैसे सकता है। अतः वह न तो भयहारी प्रभुका आश्रय ले पाता है और न निर्भय ही हो पाता है।

अतः साधकको चाहिये कि उस भयहारी भगवान्‌का आश्रय लेकर भयका समूल नाश कर दे और अपनेमें किसी प्रकार भी ऐसे अभिमानको स्थान न दे कि मैं अभय हो गया। यही भय और अभयका यथार्थ जानना है।

यदि यह प्रश्न उठे कि भयका सदुपयोग क्या है तो

इसका यह उत्तर हो सकता है कि 'मुझसे किसी भी प्राणीका अहित न हो जाय। मैं भूलसे भी किसीके प्रतिकूल व्यवहार न कर बैठूँ'—इस बातको लेकर डरता रहे अर्थात् सावधान रहे। किसीको भयभीत करना अर्थात् भय देना ही मानो भयका बीज बोना है जिसका फल भय होना अनिवार्य है। प्राणिमात्रको अभयदान देनेवाला स्वयं अभय हो जाता है यह प्राकृतिक नियम है और यह भी नियम है कि निर्भयताका अभिमानी दूसरोंके लिये भयप्रद होता है। अतः वह कभी निर्भय नहीं हो सकता। इसलिये साधकके जीवनमें कभी किसी भी परिस्थितिमें निर्भयताका अभिमान नहीं होना चाहिये। भाव यह कि जीवनमें निर्भयता तो अचल और अखण्ड हो, पर 'मैं अभय हो गया हूँ' ऐसा भास न हो प्रत्युत निर्भयता स्वभाव हो जाय। इसीमें अभयकी अर्थात् भय-रहित होनेकी सार्थकता है। चौथा युग्म है—

बन्ध और मोक्ष

अब विचार यह करना है 'कि बन्धन क्या है, वह क्यों हुआ, उसका कारण क्या है तथा उसका नाश कैसे हो और मोक्ष किसको कहते हैं, उसकी प्राप्तिका क्या महत्त्व है ?'

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि हमें जो करना चाहिये वह नहीं कर पाते और जो नहीं करना चाहिये उसे छोड़ नहीं सकते। दुःख भोगना नहीं चाहते; किंतु भोगना पड़ता है। सुख भोगना चाहते हैं; किंतु मिलता नहीं। इस प्रकार-की जो पराधीनता है यही बन्धन है, जिसके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिलती। सदैव क्रोध, लोभ और मोह आदिके आक्रमणोंसे आक्रान्त रहते हैं। इस बन्धनका एकमात्र कारण असावधानी यानी प्राप्त विवेकका अनादर और प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग है। दूसरे शब्दोंमें इसीको अज्ञान या अविवेक भी कहा जा सकता है। यह बन्धन कहीं बाहरसे नहीं आया है, हमने स्वयं ही शरीर, वस्तु और व्यक्ति आदिमें अहंता, ममता करके अपनेको वासनाओंके जालमें जकड़ रक्खा है। अतः इस बन्धनका नाश भी हम स्वयं ही कर सकते हैं और वर्तमानमें ही कर सकते हैं।

प्राप्तका सदुपयोग ही इसके नाशका सहज उपाय है जिसके करनेमें किसी प्रकार भी हम पराधीन या असमर्थ नहीं हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि 'हमें प्राप्त क्या है, और उसका सदुपयोग करना क्या है ?' तो विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिका समूह यह शरीर तथा वस्तु, व्यक्ति और योग्यता आदि जिनको हमने अपना मान रक्खा है, ये सभी प्राप्तके अन्तर्गत हैं। ये सब वास्तवमें उसी अनन्तके हैं जिसका यह समस्त विश्व है। तथापि हमने इनको अपना मान लिया है, अतः इनको वापस लौटा देनेपर अर्थात् इनका सदुपयोग करके इनसे असङ्ग हो जानेपर और इनमें ममतारहित होनेपर ही हम इनके बन्धनसे छूट सकते हैं। ये सब जिसके हैं उसीकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उसीकी प्रसन्नताके लिये इन्हें लगा देना ही इन सबका सदुपयोग है, जिसका विस्तृत विवरण 'कर्तव्य'के विवेचनमें आ गया है।

यह नियम है कि हम जिनकी सेवा करते हैं उनकी ममता छूट जाती है। यद्यपि साधारण व्यवहारकी दृष्टिसे यह प्रतीत होता है कि सेवा करनेसे ममता बढ़ती है, घटती या छूटती नहीं, पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर अनुभवमें आ सकता है कि ममता बढ़नेका कारण उनसे सुख-भोगकी आशा करना अर्थात् उन्हें सुख-भोगकी वस्तु मानकर उनकी रक्षा और पोषण करना है, सेवा करना नहीं। सेवा तो वह है कि जिसकी सेवा की जाय उसके हितमें रति हो, उसे सुन्दर और निर्मल बनानेका भाव हो। इस दृष्टिसे शरीर और इन्द्रियोंकी सेवा श्रम, संयम और सदाचारमें, मनकी सेवा शुभ संकल्पोंमें और उसे विकल्परहित बनानेमें, बुद्धिकी सेवा उसे सम बनानेमें और अहंकी सेवा समर्पण भावमें निहित है; क्योंकि ऐसा करनेसे ही शरीर और इन्द्रियाँ स्वस्थ, सुन्दर और निर्मल रह सकती हैं तथा मन भी शुद्ध और शान्त हो जाता है। बुद्धि स्थिर और वास्तविक निश्चय तथा निर्णय करनेमें समर्थ हो जाती है। फिर इन सबसे ममता नहीं रहती। इसी प्रकार जिन-जिन व्यक्तियोंको हम अपना मानते हैं, उनकी सेवा करनेसे और उनको सुखोपभोगका साधन न बनानेसे उनमें भी ममता नहीं रहती; क्योंकि सेवामें देना-ही-देना है, लेना नहीं है। किसीके अधिकारकी रक्षाके लिये तथा सुख देने और सम्मान देनेके लिये जो लेना है, वह देना ही है। अतः वह सेवा ही है। पर जो मान, बड़ाई या अन्य किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशासे तथा अधिकार, लालसा और अभिमानपूर्वक दिया जाता है वह देना भी लेना ही है, अतः वह सेवा नहीं है। इस कारण उससे ममताका नाश नहीं होता, अपितु ममता और आसक्ति बढ़ती है तथा बन्धन दृढ़ होता रहता है। जो यह समझते हैं कि सेवासे ममता बढ़ती है वे सुख-भोगको सुरक्षित रखनेके लिये किये जानेवाले कर्मका ही नाम सेवा रख लेते हैं।

कर्तव्यपालन अर्थात् प्राप्तका सदुपयोग जब सुख-भोगकी आशाका सर्वथा त्याग करके किया जाता है, तभी सेवा होती है। उससे ममताका बन्धन टूट जाता है। ममताका नाश होते ही राग और द्वेषका अन्त हो चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है।

चित्त शुद्ध होते ही संसारका सम्बन्ध छूटकर भगवान्से नित्य सम्बन्ध हो जाता है, दूसरे सब प्रकारके विश्वास नष्ट होकर एकमात्र प्रभुपर ही अटल और संदेहरहित विश्वास हो जाता है, जिससे अहं गलकर उनके प्रेमके रूपमें बदल जाता है।

बन्धनसे छूट जाना ही मोक्ष है और इसके भी सुख-भोगकी आशा न करना मोक्षका सदुपयोग है। इसीको गीतामें मोक्षसंन्यास कहा है। इसका फल विशुद्ध प्रेम है।

मोक्षकी प्राप्तिका महत्त्व यही है कि उसके होते ही साधक अपने साध्यको पा लेता है, अर्थात् सीमित अहंभाव गलकर उस अनन्तमें मिल जाता है, जिसके किसी एक अंशमें यह समस्त विश्व है।

इस प्रकार गीताके श्लोकोंका मनन करके यदि साधक अपना साधन निश्चित कर ले और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो सहजमें ही सब प्रकारके बन्धनोंका नाश हो सकता है। साधकको चाहिये कि साधनमें सफलता देखकर न तो किसी प्रकारका अभिमान करे और न उसके सुखमें रमण ही करे; क्योंकि साधनजनित सुखमें रमण करनेसे साधनमें शिथिलता आ जाती है, साधनमें प्रगति नहीं होती और अभिमानसे अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति होने लगती है। जिससे चित्त शुद्ध नहीं हो पाता तथा लक्ष्यकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। इस कारण साधकको चाहिये कि सफलताको उस परम दयालु, परम हितैषी प्रभुकी कृपा समझकर उनका कृतज्ञ होता रहे। बार-बार अपने दोषोंकी ओर देखकर प्रभुकी महिमाकी ओर आकर्षित हो मनमें समझे कि उस प्रभुका कैसा मृदुल स्वभाव है जो कि मुझ-जैसे अधमपर भी वे इतनी कृपा करते हैं।

ऐसा करनेसे हृदयमें प्रेमकी लहर उमड़ेगी। हृदय पिघलेगा और निर्मल होकर प्रभुके प्रेमसे भरा रहेगा। जीवनकी सफलता इसीमें है कि शरीर विश्वके काम आ जाय, हृदयमें प्रेमकी गङ्गा लहराती रहे और स्वयं अभिमानशून्य हो जाय। अर्थात् अपनेमें अपना कुछ न रहे।

श्रीराधिका-वन्दना

(रचयिता—श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी, शास्त्री, काव्य-पुराणतीर्थ)

वन्दौं श्रीवृषभानु किसोरी।
रूप शील लावण्य खानि गुन नागर नटवर चन्द्र चकोरी।
नेति नेति जेहि वदति सतत श्रुति गिरिधर अधर सुधारस बोरी॥
विकसित कनक कुसुम दल शत द्युति रतिपति विरति निरख तन गोरी।
मृगमद बिंदु-भाल मधि भ्राजत नील निचोल अरुण सिर खोरी॥
शिव शुक अज सनकादिक दुर्लभ हरिरस सिन्धु मगन मन भोरी।
अभिनव गौर रमणि मणि मंडित राधारमण मनोहर जोरी॥

प्रार्थना

(रचयिता—श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०)

प्रभो, दिखाओ अपना धाम।
जहाँ नहीं है क्रोध, लोभ, मद, ममता, मत्सर, काम॥
जहाँ नहीं है क्षुधा, पिपासा, स्वेद, शीत औ घाम।
जहाँ नहीं है काल-संकलित रात्रि, दिवस औ याम॥
जन्म-मरणके सतत भ्रमणसे जहाँ मिलै विश्राम।
जहाँ मुक्त जन गाया करते दिव्य गुणोंका ग्राम॥
जहाँ एकरस अक्षय धन है देव! तुम्हारा नाम।
जहाँ तुम्हारे दर्शनका सुख नाथ सदा उद्दाम॥

शान्तिकी शक्ति

(संत श्रीविनोबाजीका आंध्रमें एक प्रवचन)

आंध्रदेशके निवासियोंके हृदयमें कितनी शक्ति पड़ी है इसका भान हमें रोजकी प्रार्थनासे होता है। हर रोज बच्चे, बड़े सब पाँच मिनटतक अत्यन्त शान्तिसे मौन चिन्तन करते हैं। यह एक बड़ी शक्ति है। अपने खुदपर काबू रखनेकी शक्तिसे बढ़कर दुनियामें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। दुनियाको जीतनेवाले बड़े बहादुर कहलाये गये; लेकिन अपनी इन्द्रियाँ तथा मन आदिको जीतनेवाले, उनको वशमें करनेवाले वीर नहीं बल्कि महावीर होते हैं। यह जमाना ऐसा आया है कि इसमें इन्द्रियनिग्रह और मनःसंयमका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। आज अगर हम अपनी कृतिको काबूमें रखते हैं और ठीक विचारसे काम करते हैं तो सारी दुनियाकी सेवा कर सकते हैं। आज दुनियाके देशोंके बीच परस्पर सम्बन्ध इतना दृढ़ हो गया है कि किसी देशके मनुष्यकी अच्छी कृति सीमित नहीं रहेगी, बल्कि देश-देशमें फैल जायगी और अगर हम अपनेपर काबू नहीं रख सकेंगे, कुछ गलत काम कर लेंगे तो वह गलती और वह पाप भी सीमित नहीं रहेगा, व्यापक हो जायगा। ऐसी हालतमें हरेक देशके नागरिकोंपर और ग्रामीणोंपर व्यक्तिगत और सामूहिक तौरपर बड़ी भारी जिम्मेवारी आती है।

खास करके हिंदुस्थानके नागरिकों और ग्रामीणोंपर बहुत बड़ी जिम्मेवारी आती है। इस देशकी प्रसिद्धि है कि इसके इतिहासभरमें जिस प्रकारकी वृत्ति दीखती है उसके परिणामस्वरूप यहाँपर जो आजादीकी लड़ाई लड़ी गयी, वह भी एक विशेष ढंगसे लड़ी गयी। और उसके बाद हमारे नेताओंने विश्वशान्तिके लिये सतत प्रयत्न किया। इस तरह भारतका विशेष प्रकारका इतिहास, आजादीकी अहिंसात्मक लड़ाई और स्वराज्यप्राप्तिके बाद इस देशका विश्वशान्ति और हरेक देशकी आजादीके पक्षमें आवाज उठाना—ये तीनों चीजें हमारी जिम्मेवारी बढ़ाती हैं और उसके कारण हमारे देशमें बड़ी ताकत बढ़ेगी बशर्ते कि हम इस महिमाको समझ सकें। इसलिये हम अपने भाइयोंसे बार-बार कहते हैं कि आप छोटे नागरिक नहीं हैं, आप विश्वनागरिक हैं। वैसे हिंदुस्थान स्वयं कोई छोटा देश नहीं है। यह तो एक विश्व-समाज है, विश्वमें जितनी विविधताएँ मौजूद हैं उतनी भारतमें मौजूद हैं। तो इतनी विविधताओंके साथ अगर हमने ठीक कदम उठाया जिससे कि हमारा समाज शान्तिके तरीकेसे उन्नति प्राप्त कर सके तो उसका दुनियापर बहुत असर होगा। दुनियापर भला या बुरा, दोनों प्रकारका असर डालनेकी शक्ति आज हिंदुस्थानमें है। यह भी कबूल करना पड़ेगा कि यद्यपि हम विश्वशान्तिकी आवाज उठाते हैं फिर भी हमारे देशमें समस्याएँ कम नहीं हैं। हम तो कहते हैं कि ऐसी समस्याएँ मौजूद हैं, इसीलिये हमारी विश्वशान्तिकी इच्छाकी कीमत बढ़ती है। अगर समस्याएँ नहीं होतीं तब तो स्वाभाविक ही शान्ति रहती। जब सारा समाज सुखी है, किसी प्रकारकी विषमता नहीं है, सब लोगोंमें परस्पर सहयोग है, उच्च-नीचता नहीं है, समृद्धि है तब तो देशमें शान्ति रहना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन जहाँ विषमता मौजूद है, सामाजिक उच्च-नीचता भी पड़ी है, मजदूर-मालिकका भेद पड़ा है, एक तरफ बड़े-बड़े अमीर और दूसरी तरफ गरीब दुखी लोग मौजूद हैं, पैदावार कम है—ऐसी हालतमें अगर हम शान्ति रखते हैं तो उस शान्तिकी बहुत कीमत है।

जब मैं शान्तिकी बात कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं कि समाजमें इतने दुःख होते हुए भी सहन करते चले जाना, गरीबोंके प्रति सहानुभूति नहीं रखना, अड़ोसी-पड़ोसियोंकी परवा नहीं करना और समस्याओंके हलका उपाय नहीं ढूँढ़ना, बल्कि मैं ऐसा कहूँगा तो कोई मेरी बात मानेगा भी नहीं। यह असम्भव वस्तु है कि समाजमें अनेक प्रकारके दुःख और विषमता मौजूद होते हुए भी उसके लिये कोई प्रयत्न न करें तो भी समाजमें शान्ति रहेगी। अगर ऐसा सम्भव हुआ और बुरी हालतमें भी समाज शान्त रहा तो मैं उसे तमोगुणी समाज, जड समाज, मानवतासे गिरा हुआ समाज कहूँगा। मैं जानता हूँ कि हिंदुस्थानमें ऐसे वेदान्ती मौजूद हैं जो कहते हैं कि ये सारे सुख-दुःख मिथ्या ही हैं। इसलिये उनकी परवा क्यों करते हो ? हमेशा शान्त रहना चाहिये। लेकिन ऐसे जितने लोग मैंने देखे हैं उनके खाने-पीनेका ठीक इन्तजाम होता था। या तो वे समाजमें भिक्षा माँगते थे और समाज इतना दुखी होनेपर भी ऐसे पुरुषोंके लिये आदर रखता था और उन्हें खिलाता था। या तो उनमेंसे कुछ अमीर होते हैं या उनके हाथमें ऐसे धंधे हैं कि वे इधर समाजको चूसते रहते हैं और उधर

दुनियामें शान्तिका और निवृत्तिका पाठ गाते रहते हैं। हम समझते हैं कि यह वेदान्त नहीं है। यह वेदान्तके बिल्कुल विपरीत भाव है। यह तो दम्भकी पराकाष्ठा है—ऐसा हम समझते हैं। इसमें या तो आत्मवञ्चना है या परवञ्चना। वेदान्ती तो वह होगा जो कि खुद शान्त रहकर सारे समाजके दुःख-निवारणके लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। जो अपने स्थानमें खाने-पीने बैठा है, कुछ सेवाकार्य नहीं करता है, उसे हम वेदान्ती नहीं समझते हैं; बल्कि हम समझते हैं कि वह भारभूत प्राणी है। जो सचमुचमें आत्मानुभवी पुरुष होता है वह तो निरन्तर कृति करता रहता है। कहा गया है 'वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।' वसन्त ऋतुके समान लोक-हितके लिये सतत घूमता रहता है। अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता है। सेवा करनेमें ही समाधान चाहता है। फलकी आकाङ्क्षा नहीं रखता है और सब लोगोंके दुःख-निवारणमें मातृवत् वात्सल्यसे लगा रहता है। इतनेपर भी जिसके चित्तमें आसक्ति नहीं रहती है, जब ऊपरसे बुलावा आता है, तब खुशीसे जानेके लिये प्रस्तुत रहता है। ऐसा जो निरन्तर सेवक है, वही निवृत्तिमार्गी है, वेदान्ती है। जैसे कोई मनुष्य अत्यन्त वेगसे चलता हो तो हमें भास होता है कि वह स्थिर है। वैसे ही जो निरन्तर कर्मयोगी सेवक है वह निवृत्त मालूम होता है। अगर कोई यन्त्र काम ही न कर रहा हो, ऐसे ही पड़ा हो तो वह निकम्मा हो जाता है। उसपर जंग चढ़ता है और वह बैठे-बैठे ही खत्म हो जाता है। हम अपने घरमें ऐसे ही बैठे हों तो भी बारह बजे भूख लगती है। बैठे-बैठे ही पाँव थक जाते हैं तो चलनेकी इच्छा होती है। चलते-चलते थकान मालूम होती है तो फिर बैठनेकी इच्छा मालूम होती है। फिर सोनेकी इच्छा होती है। फिर सोनेकी भी थकान मालूम होती है; क्योंकि सोनेमें भी काम होता है, शरीरमें खूब क्रियाएँ चलती हैं, पचन-क्रिया चलती है। इस तरह शरीरसे निरन्तर कर्म चल रहा है। खाना-पीना नहीं रुक रहा है। सिर्फ गरीबोंकी चिन्ता छोड़ दी, इसे क्या वेदान्त कहते हैं ? इसलिये हिंदुस्थानमें निवृत्तिका जो गलत अर्थ किया जाता है, हम समझते हैं कि समाजके लिये यह खतरा है। निवृत्तिमार्गियोंके शिरोमणि शङ्कराचार्य हिंदुस्थानभर घूमते रहे। गाँव-गाँव और घर-घर जाकर लोगोंमें ज्ञान बाँटते रहे। इस तरह निरन्तर परिश्रम करके बत्तीस सालकी उम्रमें वे चले गये।

हिंदुस्थानमें शान्तिका यह जो गलत अर्थ निकला है वह शान्ति नहीं है, बल्कि जडता है। पत्थर यों ही पड़ा है, उसमें कोई ऊर्मि नहीं उठती, तो क्या वह शान्त है ? मैंने कई दफा कहा है कि शान्ति तो विष्णुभगवान्के-जैसी होनी चाहिये। 'शान्ताकारं भुजगशयनम्।' साँपकी शय्यापर सोते हुए भी वे शान्त रहते हैं। रूईकी गद्दीपर सोकर शान्त रहनेमें क्या शान्ति है ? जहाँ समस्याएँ मौजूद हैं और उन समस्याओंके निवारणके लिये कोशिश की जा रही है, वहींपर शान्तिकी कीमत है। अगर शान्तिका अर्थ यह हो कि स्टेट्सको रखना, आजके-जैसे समाजको कायम रखना तो वह शान्ति बिल्कुल निकम्मी है। हिंदुस्थानमें इतनी समस्याएँ, दुःख और विषमता मौजूद हैं तब भी मैं आपको शान्ति रखनेके लिये कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं है कि आप दुःख सहन करते रहें बल्कि उसका अर्थ यह है कि आपको वीर पुरुषके समान उनका मुकाबला करना चाहिये। लेकिन उन समस्याओंका निवारण शान्तिके तरीकेसे करना चाहिये और यह दिखा देना चाहिये कि शान्तिमें शक्ति पड़ी है और उससे समस्याएँ हल हो सकती हैं। आजतक लोगोंने माना है कि अगर शान्ति है तो समस्याएँ जारी रहती हैं, हल नहीं होती हैं और अगर उन्हें हल करनेकी कोशिश होती है तो खूनकी नदियाँ बहती हैं। यानी जहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न होता है, वहाँ शान्ति नहीं रहती है और जहाँ शान्ति रहती है वहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न नहीं होता है। इस तरह दोनोंमेंसे एक चीज होती है—यह मानना बिल्कुल गलत विचार है। समस्या-निवारणके साथ शान्ति होनी चाहिये, शान्तिके तरीकेसे समस्याओंका हल निकालना चाहिये या दूसरी भाषामें हम कहेंगे कि शान्ति आक्रमणकारी होनी चाहिये। यानी वह शान्ति किसी एक हृदयके अंदर छिपी हुई नहीं रहनी चाहिये। मेरे नजदीक बैठे हुए किसी मनुष्यको बिच्छूने काटा और मैं वैसे ही बैठा रहा, मुझे कुछ करनेकी प्रेरणा नहीं हुई तो वह कोई शान्ति नहीं है। यह तो करुणाका अभाव है, निष्ठुरता है, जरा सोचनेपर कहेंगे कि यह स्वार्थ है, आलस्य है और आगे बढ़कर मैं कहूँगा कि यह दम्भ है। मुझे दुखियोंकी सेवामें दौड़ना चाहिये और दौड़ते हुए भी मनमें शान्ति रखनी चाहिये। यह सच्ची शान्ति होगी।

शान्तिके तरीकेसे दुःखनिवारणकी कोशिश करेंगे, समस्याएँ हल करेंगे तो हम शान्तिकी शक्तिको प्रकट करेंगे तब शान्तिका राज्य होगा। मैंने कई दफा कहा है कि आज

दुनियामें शान्ति नहीं है सो बात नहीं; परंतु शान्ति स्वामिनी नहीं है, वह दासी है। आजकी समाज-रचनामें भी कुछ सेवाका काम चलता है, लेकिन बिल्कुल गौणरूपसे चलता है। इधर लड़ाइयाँ चलती हैं और उधर सेवा-शुश्रूषा करनेवाला थक भी जाता है। हम कबूल करते हैं कि उसमें दया है, सेवा है; लेकिन उस दयामें शक्ति नहीं है। वह दया युद्ध-निवारण नहीं कर सकती। वह तो युद्धका एक अङ्ग ही है। इस तरह दासीके तौरपर आज भी शान्तिका, दयाका, सेवाका कुछ काम चलता है। परंतु हम चाहते हैं कि शान्ति, सेवा और दया स्वामिनीके सदृश काम करें, उनका राज्य हो। हिंदुस्थानमें कई लोग ऐसे हैं, जिन्हें दुखियोंका दुःख देखकर या सुनकर दया आती है और उनकी आँखोंसे आँसू भी बहते हैं; लेकिन उन्हें दुःखनिवारणके लिये दौड़ जानेकी प्रेरणा नहीं होती। हम कहना चाहते हैं कि वह दया बिल्कुल आरम्भ की है, वह करुणा नहीं है। जिसमें करनेकी प्रेरणा होती है, वह करुणा है।

बुद्धभगवान्‌को चालीस उपवासके बाद दर्शन हुआ और उन्होंने देखा कि आसमानमें परमेश्वरकी करुणा फैली हुई है। यह आसमान परमेश्वरकी कृपाका लक्षण है। वह चुप नहीं बैठता। दिखता तो है बड़ा शान्त, लेकिन हमारे लिये पानी बरसाता है, सूरजकी किरणें भेजता है। हवाको इधरसे उधर दौड़ाता है। अगर वह यह सब नहीं करता तो हमारी क्या हालत होती? इसलिये इस आकाशको हम परमात्माका चिह्न समझेंगे; क्योंकि वहाँपर अत्यन्त व्यापक करुणा फैली हुई है। बुद्धभगवान्‌को यह दर्शन हुआ, फिर उन्होंने तपस्या छोड़ दी और वे घूमने निकल पड़े। गाँव-गाँव जाकर वे लोगोंकी सेवा करते थे, उन्हें उपदेश देते थे। एक दिन उनका एक शिष्य एक आदमीको उनके पास ले आया और उसने भगवान्‌से कहा कि इसे उपदेश दीजिये। भगवान् बुद्ध उस जमानेके परम ज्ञानी थे और उनके मुखसे हमेशा करुणामय उपदेश स्रवित होता था; लेकिन उन्होंने उस मनुष्यके चेहरेकी तरफ देखकर पूछा कि 'क्या इसने खाना खाया है?' और जब उन्हें मालूम हुआ कि उसने नहीं खाया है तो उन्होंने शिष्योंसे कहा कि 'इसे खाना खिलाओ।' जब शिष्योंने उसे खाना खिलाकर भगवान्‌के सामने उपस्थित किया, तब भगवान्‌ने उसे प्रणाम करते हुए कहा कि 'आप अब जहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ जा सकते हैं।' शिष्योंको बड़ा आश्चर्य लगा कि भगवान्‌ने उसे बोधामृत क्यों नहीं दिया। तो भगवान्‌ने उनसे कहा कि भूखेको अन्न खिलाना—यही बोध-दान है। उन्होंने बोध-दान अपने शिष्योंको दिया। उनसे कहा—'तुमलोग कितने मूर्ख हो कि भूखेको, दुखीको देखकर उपदेशकी बात करते हो। भूखेको खाना खिलाओ तो एक शब्द बोले बिना उसे ज्ञान हो जायगा। जिसका हमारे साथ कोई रिश्ता नहीं है, ऐसा एक मनुष्य प्रेमसे हमारी सेवा करता है तो वह सेवासे बोध देता है, वह सेवा ही बोलती है।' इसलिये भगवान्‌ने शिष्योंसे कहा कि 'तुम्हारे लिये बोध है और उसके लिये अन्न। तुम्हें अन्न मिल रहा है, लेकिन उसे नहीं मिल रहा है; इसलिये उसके लिये पहला बोध है अन्न।'

'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'। गुरुने शिष्यको पहला बोध दिया कि अन्न ही ब्रह्म है। मैं यहाँपर कोई आधुनिक अर्थशास्त्रका वाक्य नहीं कह रहा हूँ। मैं तो ब्रह्मविद्याका, उपनिषद्‌का वाक्य सुना रहा हूँ। ब्रह्मविद्याके ऋषि उपदेश देते हैं—'अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्' खूब अन्न पैदा करो। इन दिनों हमारी सरकार भी 'अधिक अन्न उपजाओ' कहती है। उपनिषद् भी यही बात कह रहा है; क्योंकि उपनिषद् जानता है कि ब्रह्म क्या है। ब्रह्म यानी भ्रम नहीं है, ब्रह्म वस्तु है। इसीलिये प्रत्यक्ष अनुभवसे उसकी प्राप्ति होती है। समाजकी समस्याएँ अगर शान्तिसे हल होती हैं तो समाजको ब्रह्मदर्शन होता है, समाज ऊपर उठता है। फिर समाजमें चोरियाँ नहीं होतीं। चोरियोंको दूर करनेके लिये उपदेशकी—किताबोंकी जरूरत नहीं है, बल्कि इस बातकी जरूरत है कि हम अपनेको समाजका अंश समझें और अपनेमें सारे समाजको देखें। बहुत-से लोग कहते हैं कि हम अपनी मुक्तिकी कोशिश करते हैं; लेकिन हम उनसे कहते हैं—जहाँ आपने 'हमारी' कहा, वहाँ मुक्ति आपसे दूर भाग गयी। क्या तुम बँधे हुए हो? तुम तो मुक्त ही हो। जहाँ मुक्तिकी कोशिश की जाती है, वहाँ वह दूर भागती है। हमारा एक मित्र तपस्या करनेके लिये जंगल गया, लेकिन बीचमें मेरे पास आकर दस रुपये माँगने लगा। कारण पूछनेपर उन्होंने बताया कि उपनिषद्‌की पुस्तक खरीदनेके लिये रुपयेकी जरूरत है। यानी ब्रह्मविद्या भी दस रुपयेके शरण आयी; क्योंकि उसने समझा कि मुझे इतना ज्ञान सम्पादन करना है। हम कहते हैं कि तुम अपनी निजकी चिन्ता छोड़ दो और समाजकी सेवामें लग जाओ। 'मेरे शरीरकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है। 'मेरे मनकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है; 'मुझे खूब पढ़ना-लिखना सीखना है' यह कहना भी बन्धन है।

'मुझे खूब शान्ति मिलनी चाहिये' यह कहना भी बन्धन है। 'मुझे' और 'मेरा' यह सब छोड़ दो, समाजकी सेवामें लग जाओ; मेरे पास जो कुछ है, वह समाजका है, मेरा नहीं है— ऐसा समझें। हम खायेंगे, पीयेंगे, सोयेंगे समाजकी सेवाके लिये। इस तरह हर चीज समाजकी सेवाके लिये हो, अपने लिये हम कुछ भी न करें। मेरा जो यह शरीर है, वह भी मेरा नहीं है, समाजका है। वह समाजमेंसे निर्मित हुआ है। वह उसीकी सेवामें लगेगा और उसीमें क्षीण हो जायगा। यह शरीर जन्मेगा, काम करेगा और मरेगा; वह जाने और समाज जाने। मेरा इस शरीरके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीको मुक्ति कहते हैं। जहाँ मुक्तिके लिये प्रयत्न होता है, वहाँ वह भी एक स्वार्थ बनता है। इसलिये हम अपनेको शून्य समझें, समाजमें खुदको लीन कर दें, तब हमारा बेड़ा पार होगा और समाजका भी बेड़ा पार होगा। गीतामें कहा है 'अनिकेतः स्थिरमतिः।' जिसकी बुद्धि आत्मविचारमें स्थिर हो गयी है और शरीर निरन्तर सेवाका कार्य करता रहता है, ऐसे व्यक्तियोंके कार्यके परिणामस्वरूप शान्तिमें शक्ति आयेगी और शान्तिसे समाजकी समस्याएँ हल होंगी। तो फिर हमें भी मुक्ति प्राप्त होगी और समाजको भी मुक्ति प्राप्त होगी।

हमें समझना चाहिये कि अब हमारे देशको एक बड़ा मौका मिला है, जैसा पिछले दो हजार वर्षोंमें नहीं मिला था। हमें ऐसा मौका मिला है कि जिसमें हम दुनियाकी सेवा कर सकते हैं और अपनी आवाज दुनियामें पहुँचा सकते हैं, कुल दुनियाको परमेश्वरका निवासस्थान बना सकते हैं। यह मौका भी है और साथ-साथ जिम्मेवारी भी है। इसलिये आप भूदान-यज्ञकी तरफ इस दृष्टिसे मत देखिये कि इसमें भूमिका मसला हल होनेवाला है, बल्कि इस दृष्टिसे देखिये कि मसला हल करनेके लिये शान्तिका तरीका जब हाथ आ गया, तब विश्व-शान्तिकी कुंजी हाथ आयेगी और आत्मशान्तिकी भी कुंजी हाथ आयेगी। इसलिये हम हरेकसे कहते हैं कि तुम्हारे पास जो कुछ जमीन, सम्पत्ति, बुद्धि आदि है, उसका एक हिस्सा अपने पड़ोसीके लिये दान दे दो तो जिसको वह दिया जायगा, उसकी भी समृद्धि बढ़ेगी और तुम्हारी भी बढ़ेगी; किसीको दुःख नहीं होगा, दोनों सुखी होंगे। हम साढ़े चार सालसे यही संदेश सुनाते हुए घूम रहे हैं; लेकिन हम जाहिर करना चाहते हैं कि हमें कोई थकान महसूस नहीं होती। हम यह भी कहना चाहते हैं कि हमें परिपूर्ण शान्ति लब्ध है। लेशमात्र भी चिन्ता हम नहीं महसूस करते। रातको बिस्तरपर पड़ते हैं तो निद्रा आनेमें दो मिनट भी नहीं लगते। हमारा उत्साह दिनोंदिन बढ़ रहा है। हमें यह अनुभव इसलिये हो रहा है कि इससे अपने देशकी और दुनियाकी समस्याएँ हल हो रही हैं, लोगोंमें शान्तिकी शक्ति बढ़ रही है।

उधर दुनियामें—दूसरे देशोंमें अशान्तिकी शक्तियाँ बढ़ रही हैं, ऐटम और हाईड्रोजन बम बन रहे हैं; लेकिन अशान्तिकी शक्ति एक दूसरेको अशान्त ही बनाती है। दोनों आग लगायें तो दोनोंकी आगसे पानी नहीं पैदा होता, बल्कि आग बढ़ती है। इसलिये अब दुनियाके उन लोगोंके मनमें भी शङ्का पैदा हो रही है, जो कि अशान्तिमें विश्वास रखते थे। अब वे कहने लगे हैं कि शस्त्र छोड़ने चाहिये, शान्तिकी जरूरत है; परंतु दोनों कहते हैं कि सामनेवाला छोड़ेगा तो हम छोड़ेंगे। अबतक वे ऐसी बातें भी नहीं बोलते थे, लेकिन अब कम-से-कम एक टेबलपर आमने-सामने बैठकर बात तो करते हैं। बुल्गेनीन भारतमें शान्तिके लिये आये थे। वैसे रशियाकी तुलनामें हिंदुस्थानके पास कोई ताकत नहीं है, लेकिन वे प्रेमसम्पादन करनेके लिये यहाँ आये थे। यद्यपि वे भयके कारण ही प्रेमसम्पादन करने जा रहे हैं फिर भी हम उन्हें दोष नहीं देते; क्योंकि अबतक वे भयके कारण द्वेष ही करते थे। भय तो पहले भी था और आज भी है। लेकिन पहले भयसे प्रेरित होकर द्वेष करते थे और अब प्रेम करने लगे हैं तो हमें अच्छा लगता है। हम कहते हैं कि ठीक है, बच्चा अब बोलने लगा है। बोलते-बोलते किसी दिन करने भी लगेगा। लेकिन जब वे भय छोड़ेंगे और प्रेम करेंगे, तब शान्तिकी शक्ति पैदा होगी।

आज हम बहुत कमजोर हैं। फिर भी हम देखते हैं कि हमारी प्रार्थनामें हर रोज सब लोग पाँच मिनट मौन रखते हैं। दुनियाभरमें कहा जाता है कि बच्चे तो बंदरकी जातिके होते हैं। लेकिन हमारे देशके बच्चे भी पाँच मिनट मौन रखते हैं। यही हमारे देशकी शक्ति है, जिसको हम विकसित करना चाहते हैं। दुनियाके लोगोंको आश्चर्य लगता है कि बाबाको माँगनेसे जमीन कैसे मिलती है। यह दान इसलिये मिलता है कि प्रेमसे माँगा जाता है। प्रेमसे माँगनेपर हृदय खुलता है और हृदयकी ज्योति दूसरे हृदयमें फैलती है। हिंदुस्थानमें यह जो प्रेम है, उसे हम अपनी शक्ति समझते हैं और उस शक्तिको विकसित करना चाहते हैं, प्रकाशित करना चाहते हैं, उसे बाहर लाना चाहते हैं।

(प्रेषक—बाबा श्रीराघवदासजी)

इस दैवी सिनेमाका संचालक कौन है ?

(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

संध्या-कलवारिन का आना ,
दिन ढलते दुकान लाना ;
लाल-लाल अपनी मदिरा का ,
विज्ञापन वह झलकाना ।
मेघों का भी छैला बन-बन ,
इधर-उधर आ डट जाना ;
वायु-सखी का सेवा करना ,
दौड़-धूप निज दिखलाना ॥१॥

धीरे-धीरे महफ़िल में फिर ,
निशा-नटी का भी आना ;
संध्या का आगे बढ़ना ,
सोने का प्याला रख जाना ।
लाकर प्याला अधर-पुटों तक ,
निशा-नटी का नखराना ;
हँस-हँस फिर स्वर्गीय लाल ,
रस का वह प्याला पी जाना ॥२॥

क्षण में दृश्य बदलना सब ,
फिर रंग निशा पर चढ़ आना ;
महफ़िल का भी तन्मय होना ,
निशा-रंगमें रँग जाना ।
रङ्गभूमि में उतर निशा का
रूप-जाल वह फैलाना ;
समयोचित सब साज साज कर ,
कला अलौकिक दिखलाना ॥३॥

झूम-झूम मोती के झुप्पे
सिर पर चम-चम चमकाना ;
झमक-झमक कर झरनों से ,
सरिताओं पर पग थिरकाना ।
घुमड़-घुमड़ वह हवा बीच
फिर नाच दिखाना मस्ताना ;
हरकर सब की सुध-बुध सब पर
जादू-सा कुछ कर जाना ॥४॥

चंद्र-कुँअर के चित्त-पटल पर
निशा-रूप वह गड़ जाना ;
प्रेम-पाश में पड़कर उसका
दिन-दिन घुलते दिखलाना ।
फूलों का खिल-खिल हँसना
कलियोंका उँगली चटकाना ;
लतरों का भी इतरा-इतरा
कर अपनी कटि मटकाना ॥५॥

पुत्र चंद्र की देख दशा यह
सिन्धुदेव का घबराना ;
हा हा कर आगे को बढ़ना ,
फिर पछाड़ खा गिर जाना ।
शैलों का तब धैर्य बँधाना ,
दृढ़ता के गुण समझाना ;
देख दशा यह दसो दिशाओं
का चित्रित-सा रह जाना ॥६॥

इधर निशा का नाटक सारा
अब समाप्ति पर आ जाना ;
चंद्र देव का निशा-विदाई
पर व्याकुलता दिखलाना ।
दोनों का जी भर-भर रोना ,
सौ-सौ आँसू ढरकाना ;
फिर दोनों का अपने उतरे
चेहरे ले-ले घर जाना ॥७॥

आखिर उषा-कुमारी का फिर
किरणों की झाड़ू लाना ;
गगनाङ्गण के बिखरे सब
मोती बटोर कर ले जाना ।
फिर अन्तिम प्रणाम प्राची का
स्वर्णाक्षर में दिखलाना ;
औ प्रकाश होते ही सब में
चहल-पहल-सी मच जाना ॥८॥

यों स्वर्गीय सिनेमा के सब खेल मनोहर रोजाना ;
कौन दिखाता है बैठा माया-मशीन पर वह स्याना ।
है वह कौन अदृश्य, दृश्य जो दिखलाता यह मनमाना ;
कभी उधर भी दृष्टि फिरी क्या, कभी उसे भी पहचाना ॥ ९ ॥

शान्ति कैसे मिलती है ?

(लेखक—अनिकेत अनन्त श्रीशङ्करस्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। जो लोग इसे पाते हैं, वे धन्य हैं। मानव-जन्म मिलनेपर भी इष्टकी भक्ति और भी दुर्लभ बतायी गयी है; इसलिये बिजलीकी तरह चञ्चल परंतु दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर भक्तिपूर्वक इष्टका भजन करना चाहिये। जबतक बुढ़ापा नहीं आता, मृत्यु भी जबतक नहीं आ पहुँचती और इन्द्रियाँ जबतक शिथिल नहीं हो जातीं, तभीतक इष्टकी आराधना कर लेनी चाहिये। यह शरीर नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है। विचारवान् मनुष्य इसपर कभी विश्वास न करें।

'बहिःसरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते ?'

मृत्यु सदा निकट रहती है। धन-वैभव अत्यन्त चपल है तथा शरीर कुछ ही समयमें मृत्युका ग्रास बन जानेवाला है। संयोगका परिणाम वियोग ही है। यहाँ सब कुछ क्षणभङ्गुर है—यह विचारपूर्वक निश्चितरूपसे जानकर जन्म-मृत्यु-हर इष्टकी पूजामें तत्पर रहना चाहिये। वे इष्ट ही अज्ञानी जीवोंको अज्ञानमय बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। इष्टके भजनसे सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं तथा मनकी शुद्धि होती है। इष्टके पूजित होनेपर मनुष्य परम मोक्षतक प्राप्त कर लेता है।

सब कर्मोंको सिद्ध करनेवाले मानव-जन्मको पाकर भी जो मनुष्य इष्टकी सेवा नहीं करता, उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है। 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः'। सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः' के रहते हुए भी मनुष्य ज्ञानरहित होकर नरकोंमें पकाये जाते हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है! जिससे मल-मूत्रका स्रोत बहता रहता है, जिसे प्रतिदिन बहुत बार जल एवं मिट्टीसे साफ करते रहनेपर भी जो साफ नहीं रहता, ऐसे इस मलिनताके घर शरीरमें अज्ञानी मनुष्य महान् भोगेच्छासे आच्छन्न होनेके कारण शोभनताकी भावना करते हैं और इस क्षणभङ्गुर शरीरमें नित्यताका निश्चय करते हैं! जो मनुष्य मल, मूत्र, मांस तथा रक्त आदिसे भरे हुए इस अपवित्र शरीरको पाकर संसार-बन्धनका नाश करनेवाले इष्टका भजन नहीं करता, वह तो गजमूर्ख है और महान् अभागा तथा महापातकी है। मूर्खता या अज्ञान अत्यन्त कष्टकारक है, महान् दुःख देनेवाला है; परंतु इष्टके भजनद्वारा चाण्डाल भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे वह मोक्ष प्राप्त करके महान् सुखी हो जाता है। ज्ञानशून्य मनुष्य पशु कहे गये हैं। अतः संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परम शान्ति प्राप्त करनेके लिये इष्टके भजनद्वारा परम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानशून्या नरा ये तु पशवः परिकीर्तिताः।
तस्मात् संसारमोक्षाय परं ज्ञानं समभ्यसेत्॥

जो अध्यात्मज्ञानसे सम्पन्न तथा इष्टरूपी परमात्माकी आराधनामें तत्पर रहते हैं, वे पुनरावृत्तिरहित परमधामको पा लेते हैं। जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, जिनसे चेतना पाकर यह जीवित रहता है और भोगावसानमें जिनके भीतर ही इसका लय होता है, वे परमात्मा ही संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले हैं। जो अखण्ड अनन्त परमेश्वर निर्गुण होते हुए भी सगुण-से प्रतीत होते हैं, उन परमात्माकी आराधना करके मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर अखण्ड शान्ति पा जाता है।

कर्मसे देह मिलता है। देहधारी जीव भोगोंकी कामनासे बँधता है। कामनासे भोग प्राप्त करनेके लिये वह लोभके वशीभूत हो जाता है और लोभकी वस्तु प्राप्त करनेमें बाधा प्राप्त होनेसे क्रोधके अधीन हो पड़ता है। क्रोधसे हिताहित-विवेकका नाश होता है। हिताहित-विवेकके नाशसे बुद्धि बिगड़ जाती है और जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, वह मनुष्य पुनः पाप करने लगता है। अतः देह ही पापकी जड़ है तथा उसीकी पापकर्ममें प्रवृत्ति होती है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह इस देहात्मबुद्धिका परित्याग करके अखण्ड चेतनात्म-बुद्धिमें स्थित होकर परम शान्ति (अभय) प्राप्त करनेके लिये इष्टरूपी परमात्माका भजन करे। जो ब्रह्माजीके रूपमें सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, विष्णुरूपसे पालन तथा रुद्ररूपसे संहार करते हैं; जो तीन रूपोंसे लीला करते हैं, जिनके प्रभावसे महत्तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, उन नित्यानन्दस्वरूप सर्वव्यापी परमात्माको ही मोक्षदाता जानकर उनकी सेवा करनी चाहिये। सम्पूर्ण चराचर जगत् जिनसे भिन्न नहीं है—जैसे स्वर्णालङ्कार स्वर्णसे भिन्न नहीं होता, तथा जो रोग, शोक, जरा और मृत्युसे सदा परे हैं, उन स्वयंप्रकाश एकरस सदानन्दस्वरूप परमात्माका ध्यान करके मनुष्य दुःखसे मुक्त होकर चिर शान्ति प्राप्त कर सकता है। जो विकाररहित, अजन्मा, शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निरञ्जन, ज्ञानरूप तथा सच्चिदानन्दघन हैं, देवगण जिनके अवतार-स्वरूपकी सदा आराधना करते हैं, वे परमात्मा ही मोक्षदाता हैं—यों जान-

कर उनकी आराधना करनेपर जीव नित्यशान्ति प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है। जो निर्गुण होकर भी सम्पूर्ण गुणोंके आधार हैं; लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, काली, तारा, राम, कृष्ण, सूर्य आदि विविध रूप धारण करते हैं और सबके हृदयाकाशमें क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान तथा मृत्पात्रोंमें मृत्तिकावत् सर्वत्र परिपूर्ण हैं; अद्वितीय होनेके नाते जिनकी कहीं भी उपमा नहीं है तथा जो सबके आधार हैं ठीक जिस प्रकार जल तरङ्गोंका आधार है, उन परमात्माकी शरणमें जाकर जीव अपनी खण्डबुद्धि खोकर परम शान्ति प्राप्तकर धन्य हो सकता है। जो अद्वैत, निर्गुण, नित्य, अद्वितीय, अनुपम, परिपूर्ण तथा ज्ञानमय ब्रह्म हैं; जो आनन्दस्वरूप, जरारहित, परमज्योतिर्मय, सनातन तथा परात्पर ब्रह्म हैं, उन्हींको साधुपुरुष परम शान्ति-का—मोक्षका साधन मानते हैं। जो सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करनेवाला, शम-दम आदि गुणोंसे युक्त और काम आदि दोषोंसे रहित है, ऐसा योगी योगमार्गकी विधिसे उस परम तत्त्वकी उपासना करके परमात्माका सुप्रसिद्ध परमपद प्राप्तकर परम शान्तिको पा लेता है।

इस असार संसारमें केवल परमात्मा इष्टकी आराधना ही सत्य है। यह संसार-बन्धन अत्यन्त दृढ़ है और महान् मोहमें डालनेवाला है। इष्टभक्तिरूपी कुठारसे इसको काटकर जीव अत्यन्त सुखी हो सकता है। वही मन सार्थक है, जो इष्टके चिन्तनमें लगता है तथा वे ही दोनों कान धन्य हैं, जो इष्ट-कथामृतकी सुधाधारासे परिपूर्ण रहते हैं। जो आनन्दस्वरूप, अक्षर और जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे रहित तथा हृदय-गुहामें सदा विराजमान हैं, उन्हीं परमात्माका निरन्तर भजन करनेवाला जीव चिरशान्ति पा लेता है। यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् केवल भावनामय है और बिजलीके समान चञ्चल है। अतः इसकी ओरसे विरक्त होकर परमात्माका भजन करना चाहिये। जिनमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ईर्ष्याका त्याग तथा दया—ये सद्गुण विद्यमान हैं, उन्हींपर परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

शरीर मृत्युसे जुड़ा हुआ है। जीवन अत्यन्त चञ्चल है। धन-वैभवपर राजा आदिके द्वारा बराबर बाधा आती रहती है और सम्पत्तियाँ क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली हैं। आधी आयु तो नींदसे ही नष्ट हो जाती है और कुछ आयु भोजन आदिमें समाप्त हो जाती है। आयुका कुछ भाग बचपनमें, कुछ विषय-भोगोंमें और कुछ बुढ़ापेमें व्यर्थ बीत जाता है। बचपन और बुढ़ापेमें परमात्माकी आराधना नहीं हो पाती, अतः अहंकार छोड़कर युवावस्थामें ही धर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये—

युवैव धर्मशीलः स्याद् वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥

यह शरीर मृत्युका निवासस्थान है, विपदाओंका सबसे बड़ा अड्डा है, रोगोंका घर है, मल-मूत्र आदिसे सदा दूषित रहता है। फिर भी मनुष्य इसे सदा रहनेवाला समझकर व्यर्थ पाप करते हैं—'किमाश्चर्यमतः परम् !' यह संसार असार है। इसमें नाना प्रकारके दुःख भरे हुए हैं। अतः इससे सुख-शान्तिकी आशा नहीं रखनी चाहिये। देह-बन्धनकी निवृत्तिके लिये शरीर और संसारकी तुच्छताका विचार करते हुए भोगेच्छासे रहित होकर इष्टके भजन बिना दूसरी गति नहीं है। संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं। केवल भगवान् श्रीइष्ट नित्य माने गये हैं। अतः अनित्य वस्तुओंका परित्याग करके नित्य श्रीइष्टका ही आश्रय लेना चाहिये। जो भोगोंसे विरक्त नहीं होता, वह संसारमें फँस जाता है। जो मानव जगत्के अनित्य पदार्थोंमें आसक्त होता है, उसके संसार-बन्धनका नाश कभी नहीं होता। अतः अभिमान और लोभ त्यागकर, काम-क्रोधसे रहित होकर, मोक्षकी इच्छा रखकर सदा परमात्माका भजन करना सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कर्तव्य है; क्योंकि मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है—'नहिं ऐसो जनम बारंबार'।

वैराग्य और अभ्यास—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण मोक्ष-साधन बनते हैं; केवल वैराग्य या केवल अभ्यास पूर्ण साधन नहीं है। केवल वैराग्य-साधनसे मनुष्य अभिमानका शिकार और वाचिक ज्ञानी बन बैठता है और केवल अभ्याससे जीव हठी, सम्प्रदायी तथा राग-द्वेष और संग्रहके वशीभूत होकर स्थानधारी बन जाता है तथा—

'अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥'

—बननेके अधिकारसे वञ्चित रह जाता है। इसी कारण श्रीभगवान्ने कहा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

अभ्यास और वैराग्य—इन दोनोंके द्वारा मन वशीभूत होता है। जबतक शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति (राग) का अत्यन्त अभाव नहीं होता, तबतक साधक किसी भी साधनमें कृतकार्य नहीं हो पाता; क्योंकि बिना वैराग्यके किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं। 'अभ्यास' किसे कहते हैं ?—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' चित्तकी स्थिरताके

लिये किया जानेवाला जो यत्न है, वह 'अभ्यास' है। स्वाध्याय, पूजन, जप, प्राणायाम, ध्यान, तत्त्वविचार, कीर्तन आदि नाना रूपोंसे यह यत्न किया जाता है। परंतु यह अभ्यास दीर्घकालतक, निरन्तर और आदरपूर्वक सेवन किये जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है। 'वैराग्य' का लक्षण क्या है ?—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'

अर्थात् देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है अर्थात् दृष्ट और श्रुत सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका जो अत्यन्त अभाव है, वह 'वैराग्य' है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
(५। २१)

अर्थात् 'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।' आगे अठारहवें अध्यायमें भी ध्यानयोगका वर्णन करते हुए कहा गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
(१८। ५१-५२)

अर्थात् विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक एवं नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और पवित्र देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके तथा भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय करके ध्यानयोगके नित्य परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है)। इससे सिद्ध होता है कि ध्यानयोगकी सिद्धि बिना वैराग्यके नहीं हो सकती।

ज्ञानयोगीके लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न होना परम आवश्यक है। उसमें भी विवेक-वैराग्य प्रधान हैं। इसलिये श्रीभगवान्‌ने ज्ञानके साधन बतलाते हुए विषयोंसे वैराग्य करनेका उपदेश दिया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
(गीता १३। ८-९)

अर्थात् इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना।

भक्तियोगकी सिद्धिके लिये तो संसार, शरीर और भोगोंसे तीव्र वैराग्य करके अनन्य प्रेमपूर्वक (अव्यभिचारिणी भक्तिसे) श्रीभगवान्‌की ही सर्वप्रकारसे शरण ग्रहण करना परम आवश्यक होता है। इसलिये श्रीभगवान्‌ने संसारका वृक्षके रूपकसे वर्णन करते हुए उससे वैराग्य करने और परमेश्वरके शरण होनेकी बात कही है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥
(गीता १५। ३-४)

अर्थात् इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुषके मैं शरण हूँ—(इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये)।

कर्मयोगका साधन भी बिना वैराग्यके नहीं हो सकता। आसक्तिके त्यागसे ही कर्मयोगनिष्ठाकी सिद्धि होती है। इसलिये श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३।१९)

अर्थात् इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतएव सभी साधनोंमें वैराग्यकी परम आवश्यकता है। विवेकपूर्वक वैराग्यके बिना किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं।

परंतु ये सब साधन-भजन तभी ठीकरूपसे चल सकेंगे, जब हम प्रतिदिन शुद्ध आहार ग्रहण करेंगे। जो परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं, अंदरका असली आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, किसी भी योग-साधनके अधिकारी बनना चाहते हैं, उन्हें तो शुद्ध आहार अवश्य ग्रहण करना पड़ेगा। उन्हें तो मांस, मछली, अंडे, प्याज, लहसुन, शलगम, गाजर आदि सभी तामसिक पदार्थ तथा मिर्च, मसाला, तेल, खटाई, मिठाई, अचार, मुरब्बा और घी, तेल आदि चिकनाईमें तली-भूनी चीजें ('पूड़ी, कचौरी, हलुआ, मोहनभोग, रसगुल्ला, गुलाबजामुन, लड्डू, पेड़ा, रबड़ी, मलाई आदि राजसिक पदार्थ) छोड़ने होंगे; इनके त्यागे बिना कुछ भी नहीं होगा। हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर, उसकी सात्त्विकतापर जो इतना जोर दिया गया है, वह किसलिये ? केवल इसलिये कि उससे सात्त्विक विचार उत्पन्न होंगे, पवित्र विचार बनेंगे, जीवन पवित्र बनेगा, बुद्धि शुद्ध होगी, रज और तमसे छुटकारा मिलेगा और सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी। 'जैसा खावै अन्न, तैसा बनै मन।' भोजनके पदार्थोंका चित्तपर पूरा संस्कार पड़ता है।

शुद्ध आहारके तीन अर्थ हैं— (१) अन्न ईमानदारीकी कमाईका होना चाहिये अर्थात् जिससे अन्न खरीदा गया हो वह धन किसीका भी खून चूसकर या किसीको भी किसी प्रकारकी हानि पहुँचाकर न कमाया गया हो। पवित्र विचारोंके लिये अर्थशुद्धि भी जरूरी है। (२) भोजनके बनानेमें पूरी शारीरिक पवित्रता और पूरी मानसिक पवित्रता बरती गयी हो यानी वह स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर मौन रहकर इष्ट-नाम जपते हुए प्रसन्नतापूर्वक शुद्धतासे बनाया गया हो। और (३) बलिवैश्वदेवके पश्चात् अतिथिका अन्न आदिसे भलीभाँति सत्कार करनेके बाद भोजन इष्टको निवेदन करके उसे प्रभु-प्रसादी समझकर मौन रहकर इष्टका स्मरण करते हुए प्रत्येक कौरको इतना चबाना चाहिये कि वह लारके साथ मिलकर एक हो जाय और केवल इतना प्रसाद ग्रहण करना चाहिये कि पेट न तो खाते समय भारी लगे और न खानेके बाद। सनातनी हिंदू भोजनको भी भजन जानते हैं, भोजनको प्राणाग्निहोत्र-यज्ञ जानते हैं; 'यदश्नासि तत् कुरुष्व मदर्पणम्'—इस भगवदादेशका स्मरण रखते हुए मौन रहकर प्रभु-स्मरणके साथ प्रसाद पाकर उसे अमृत बना लेते हैं; वे पशु-पक्षीकी भाँति जीभके रास्ते भोजन-पदार्थ सिर्फ पेटमें ठूँसते नहीं। उनका भोजन सात्त्विक, पौष्टिक, सादा और संतुलित होता है।*

दूषित भावनाओंवालेके द्वारा बनाये अन्नमें मनको बिगाड़नेका प्रभाव रहता है। मांसाहारीके हाथका, हर-किसी मनुष्यके हाथका भोजन करनेसे भी मन दूषित हो जाता है। नौकरों इत्यादिके द्वारा बनाये गये या होटलोंमें बनाये गये भोजनमें पवित्र भावनाएँ नहीं होतीं; इसीलिये होटलोंमें खानेवालोंकी मानसिक अवस्था दिनोंदिन बिगड़ती चली जाती है और उनका घोर मानसिक तथा शारीरिक पतन हो जाता है। भूलकर भी भारी जमातोंमें बना, हलवाइयों और होटलोंका बना, बाजारोंमें बना और चाहे जिसके हाथका बनाया भोजन कभी भी नहीं खाना चाहिये। अन्नदाताका तथा अन्न बनानेवालेका मानसिक भाव अन्नके जरियेसे अन्न खानेवालेमें

* कहा गया है—

अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम्।
असंस्कृतान्नभुङ् मूत्रं बालादिप्रथमं शकृत्॥
अहोमी च कृमीन् भुङ्क्ते अदत्त्वा विषमश्नुते।
(विष्णुपुराण ३।११।७१-७२)

अर्थात् जो मनुष्य स्नान किये बिना भोजन करता है, वह मल खाता है। जप किये बिना भोजन करनेवाला रक्त-पीब पान करता है, संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्र पीता है तथा जो बालक-वृद्ध आदिसे पहले भोजन करता है, वह विष्ठाहारी है। इसी प्रकार बिना होम किये भोजन करनेवाला मानो कीड़े खाता है और बिना दान किये खानेवाला विषभोजी है।' अतः अन्नको सात्त्विक और अमृतस्वरूप बना लेनेके लिये भोजनसे पहले स्नान करना, जप-पूजादि करना, बलिवैश्वदेव करना, बालक-वृद्ध-रोगी-गर्भिणी आदिको खिलाना और गौ, कुत्ते, काक, चींटी आदिके लिये अन्न छोड़ना परमावश्यक है।

संचारित हो जाता है। इसलिये अन्न ग्रहण करनेमें यह अवश्य देख लेना चाहिये कि अन्न कहाँसे आ रहा है और किसके द्वारा बनाया गया है। जैसे अभ्यास और वैराग्य—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण साधन बनते हैं, वैसे ही शुद्ध भावना और शुद्ध अन्न—ये दोनों मिलकर ही मोक्षका अधिकारी बनाते हैं। सदा स्मरण रखना चाहिये—'जिते रसे सर्वं जितं भवति' रसनाजित् होनेपर अर्थात् सात्त्विक एवं परिमित, लघु आहारका अभ्यास दृढ़ हो जानेपर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। रसनाको जिसने सचमुच रस+ना बना लिया, उसने आधा जग जीत लिया। मादक पदार्थोंको तो पास भी न आने देना चाहिये। शराब, ताड़ी, आसव, गाँजा, भाँग, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट ही नहीं, यथासाध्य चाय भी नहीं पीना चाहिये। ये सभी चीजें नशीली हैं। मादक द्रव्यका व्यवहार तथा धूम्रपान क्षय-रोगका एक बड़ा कारण है। इसीलिये यह जरूरी है कि न तो असात्त्विक (अपवित्र) पदार्थ खाये-पिये जायँ और न ऐसे लोगोंका सङ्ग किया जाय, जिनके विचार संकीर्ण हैं, गंदे हैं, मलिन हैं, अशुद्ध हैं, और जो नशेके वश हैं।

मनुष्य आशासे कष्ट पाते हैं। आशाबद्धके लिये मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है। जबतक मनुष्यका शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लालच रहता है। शरीरको 'मैं' माननेसे और सम्बन्ध रखनेवालोंको 'मेरा' माननेसे चाहकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिन-जिनसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है, उनमें आसक्ति होती है। आसक्तिके कारण ही भोग उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं और वह भोगोंके उपभोगमें प्रवृत्त होता है। जबतक यह भाव रहता है—अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थितिमें सुख मिलेगा, तबतक मनुष्य उनका दास बना रहता है और जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोग-वासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं। अपनेको चेतन-स्वरूप जानकर देहसे असङ्ग होनेपर ही मनुष्य भोगवासनासे रहित हो सकता है। इस समय देखनेमें आता है कि एक समूहके लोग, जो अपनेको विरक्त कहनेका दम भरते हैं, अपनेको भगवान्‌का भक्त कहते हैं। उनमें अधिकांश लोग बड़े-बड़े मठ, आश्रम, अखाड़े, बड़े-बड़े अधिकार और बहुत-सी सामग्रियोंका संग्रह करनेमें ही अपना जीवन सफल मानते हैं। अमुक स्वामीजीका आश्रम बड़ा सुन्दर है। वहाँ लोगोंको सब प्रकारका सुख मिलता है, उनके बड़े-बड़े धनी-मानी ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य या भक्त हैं, उनका बड़ा सम्मान है, उनकी निजी मोटर है,—इस प्रकारकी बड़ाई सुन-सुनकर मस्त रहते हैं एवं व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे भोगोंकी चाह उत्पन्न होने और उनके पूर्ण होनेको ही सुख मानते हैं। ये सब चाहके दास हैं। ये त्यागीका वेष लेकर संग्रहमें लगे रहते हैं, अर्थ-वित्त-त्यागीका चपरास लेकर भी धनवान् हैं, वित्तशाली हैं, धन-जन-स्थानके गौरवी हैं। इन्होंने 'घर' नामक स्थान छोड़ा और आश्रम नामक स्थान बनाकर ये उसमें रहने लगे। पहले घरका अहंकार था, अब आश्रमका हो गया। पहले घरमें ममता थी, अब आश्रममें हो गयी। पहले घरके प्राणि-पदार्थोंको लेकर राग-द्वेष था। अब आश्रमके प्राणि-पदार्थोंको लेकर हो गया। परिवर्तन केवल नामका हुआ, वस्तुस्थिति वही रही। त्याग वस्तुतः कुछ भी नहीं हुआ। बल्कि त्यागका एक मिथ्या अभिमान और छा गया। इनके लिये ही कहा गया है—'न घरका न घाटका'। इन्होंने इष्टा-पूर्त* कर्मोंका परित्याग करके तो चतुर्थ आश्रमका वेष धारण किया था; परंतु अब ये उन

*'इष्ट'=अग्निहोत्र, वैश्वदेव, वेदपाठ, आतिथ्य आदि वेदविहित कर्म; 'पूर्त'=स्मृतिविहित कूप-तड़ागादि दानरूप तथा बगीचे लगाना, रास्ता-घाट, धर्मशाला, मन्दिरादि निर्माणरूप कर्म। ये सब अर्थ तथा वित्तसाध्य कर्म गृहस्थाश्रमीके लिये विहित हैं; क्योंकि वे ही अर्थ और वित्तके संग्रहके शास्त्रोक्त अधिकारी हैं।

मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥'

(१।२।१०)

अर्थात् स्त्री-पुरुष-वित्तादिमें आसक्तिवश मोहयुक्त मनुष्य इष्टापूर्त-कर्मको सर्वोत्कृष्ट मानकर उससे अतिरिक्त और कुछ भी कल्याणप्रद साधन अर्थात् आत्मज्ञान नहीं जानते। वे मूढ़ मनुष्य सकाम कर्मसे लब्ध स्वर्गके उपरिभागमें अर्थात् इन्द्रलोकमें पुण्यफल भोगकर [पुण्य-क्षीण होनेके साथ ही] इस मर्त्यलोकमें अथवा इससे भी हीनतर लोकमें अर्थात् पश्वादिके शरीरमें किंवा नरकमें प्रवेश करते हैं। इस रहस्यको जानकर विवेक-वैराग्यवान् पुरुष इष्टापूर्त-कर्ममय गृहस्थाश्रम त्यागकर परमात्माकी अपरोक्षानुभूतिके लिये आत्मज्ञानलाभार्थ प्रव्रज्या करते हैं। अतः जो लोग गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास-आश्रममें प्रवेश कर चुके हैं, उनके पक्षमें पुनः इष्टापूर्त-कर्ममें प्रवृत्त होना भी अयुक्त है, वान्त-भोजनके समान श्व-वृत्ति है।

इष्टा-पूर्त कर्मोंके जरियेसे विश्व-कल्याणके नामपर लोगोंसे सुख-सुविधा, मान-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि नीच स्वार्थ-साधन तथा शरीर और इन्द्रिय-तृप्तिके प्रयासमें ही लगे हुए हैं और अपने ही कर्मोंसे अपने-आपको धोखा दे रहे हैं। ये गैरिक वसनका कलङ्क हैं। ये स्वधर्म-त्यागी एवं परधर्मग्राही हैं, अपनी प्रतिज्ञाके तोड़नेवाले हैं। श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने।
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी॥
(काशीखण्ड पूर्वार्ध ४१। २५)

अर्थात् संन्यासी यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है, यह सनातन श्रुति है। साधु-संन्यासी होकर 'कञ्चन-कामिनी'के साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना उसके लिये कलङ्क है। साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवानेसे, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करनेसे और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है।

जबतक कुछ बननेकी या कुछ करनेकी इच्छा है, तबतक विषयोंमें आसक्ति है, भोगोंकी वासना जीवित है; तबतक कोई बूढ़ा हो या जवान, उसे अनात्मविचार घेरेंगे ही। माथा मुड़ा लेनेसे, कपड़ा रँग लेनेसे, घर-बार छोड़ देनेसे, परिग्रहसे छुटकारा ले लेनेसे, धर्मोपदेशक, कथावाचक, साधु-संन्यासी, मुल्ला-पादरीका चोगा पहन लेनेसे विषयोंकी वासना जाती रहेगी—ऐसा सोचना भी गलत है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही छोटी-सी लँगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रह सकती है। चाहे घरमें रहा जाय या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। जरूरत है इस आसक्तिको मिटानेकी। फिर कहीं भी रहा जाय—घरमें या जंगलमें। इस कारणसे कहा गया है—

नातः सुखतरं किंचित् त्रिपु लोकेषु विद्यते।
वीततृष्णस्य कामेभ्यो मुक्तसङ्गस्य यत् सुखम्॥
किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तद् भवेत् परितापाय सर्वं सम्पद्यते तदा॥

बन्धन मनुष्यका अपना ही बनाया हुआ अपने अंदर है, अतः उससे मुक्ति भी वह स्वयं ही कर सकता है। बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये चाहिये कि सब प्रकारके भोगोंकी चाहका त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तनसे रहित हो जाय। चाहरहित न होनेतक अभावका दुःख भोगना ही पड़ता है। नाना प्रकारके संकल्प और भोगोंकी इच्छाने ही मनुष्यमें अभावकी उत्पत्ति करके उसे दुखी कर दिया है। संकल्परहित होनेपर साधकमें शक्तिका जागरण होता है और चित्त शुद्ध और शान्त होने लगता है। तब वह चाहरहित हो सकता है। चाहरहित होनेपर ही शान्ति मिलती है। श्री-भगवान्ने कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१)

अर्थात् जो सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

आस्थाकी सायामें

जब कभी अन्तरतमकी गहराईमें झाँकता हूँ।
उद्विग्नताका वेग कम हो जाता है।
चिन्ताका साया हट जाता है।
और—
डगमग विश्वास जम जाता है।

तब—
आस्थाकी सायामें
संकल्प, वेगवान हो,
हमराही पवनवत;
हमराही हिलोरवत,
मेरे कदमोंको
मंजिलकी ओर बढ़ा देता है।

—बालकृष्ण बलदुवा

प्रभु-पद, रज और पाँवरी

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

पर तो प्राणिमात्रके होते हैं, पद होना चाहिये—पद भी पद्मपाद हों, फिर उनकी रज। तुलसीदासजी उन्हीं 'सरोज-चरण-रज'की ओर इङ्गित कर कह रहे हैं—

'श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।

केवल अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें ही इतनी सावधानी बरतनेकी आवश्यकता क्यों थी?......

वैसे तो श्रीरामचरितमानसमें अयोध्याकाण्ड विशिष्ट है। उसमें भी (विशिष्ट) स्थल चित्रकूट है, जहाँ रघुवर-विमल-यश तथा भरत-सुयशका वर्णन स्वयं एक साधना थी तथा वहीं यदि श्रीरामके द्वारा भरतको दीक्षा दी गयी हो तो विवेचन अधिक दुर्गम हो जाता है। कवि तुलसी भरतकी साधनाका वर्णन तो कर गये; किंतु उसे सर्वजनगम्य फिर भी नहीं बना सके। चित्रकूटमें भरत-राम-दर्शन और मिलन हुआ—तुलसीने इसीलिये उसे वैशिष्ट्य प्रदान किया और स्वयं उन्हें भी रामदर्शन वहीं हुआ, ऐसा कहा जाता है।

'तुलसिदास चंदन घिसैं तिलक देत रघुबीर।'

तुलसीदासजीके इष्ट—श्रीरामचन्द्रजी और गुरु महामना भरतके इष्टके विषयमें शङ्का किसीको हो नहीं सकती; इसलिये प्रमाण अनावश्यक है। तथापि भरतके गुरु होनेका प्रमाण देना होगा—

अयोध्याकाण्डके अन्तमें वे कहते हैं—

'तुलसी से सठहि हठि राम सनमुख करत को।'

जीवको ईश्वरके सम्मुख करना सरल कार्य नहीं—

'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं।'

फिर भी जीव ईशके सम्मुख नहीं होता, परंतु तुलसीको भरतजीने रामके सम्मुख कर दिया—

'बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविंद दियो बताय।'

भगवान् विभीषणकी शरणागतिके समय कहते हैं—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भरतजीने तुलसीके कोटि जन्मके अघ नाश कर दिये और अपनी साधनाका क्रम उपलब्ध करा दिया। यह केवल गुरु ही कर सकता है। पारस लोहेको सोना बनाता है, परंतु 'गुरु करैं आपु समान' यह रजोपासना उन्हीं महामना भरतकी प्रदत्त थी।

जिस समय भरतको जगत्ने उपेक्षित करना चाहा, किया, उस समय भरतने केवल एक ही आश्रय ग्रहण किया, वह था—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

भरत कहते हैं—मेरे हृदयमें जलन है, भवतापसे मैं दग्ध हुआ जा रहा हूँ। बिना सरोज-चरणके देखे जलन शान्त नहीं हो सकती। इस जलनका उपचार करनेके लिये तपस्वी भरत नग्न-पद, कण्टकाकीर्ण मार्गसे चले जा रहे थे; साथमें था अयोध्याका समाज, जो अब अपना दृष्टिकोण परिवर्तितकर भरतकी रजोपासनाका अनुसरण कर रहा था। यह कहकर कि—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

और भरत उस मार्गका अनुसरण कर रहे थे, जिस मार्गसे राम गये थे। पद-चिह्न देखकर भरत जलन मिटा—हर्षित होकर—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

यह थी रजोपासना! प्रभु, इष्टदेव, गुरुके दर्शनोंके लिये चरणरजसे सिर, हिय और नयन परिमार्जित, प्रकाशयुक्त बनाये जा रहे थे। इस साधनाके क्रमपर देव बलिहार हो रहे थे। कहिं सुपंथ 'सुर बरषहिं फूला।' इसी चरणकी रजसे गङ्गा पावन हुई थी और केवट इस रजको विनोदमें ही धोकर पी गया था। भरतने तो अपनी जलनका बाह्य उपचार किया, परंतु केवटने तो पीकर।

'पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।'

इसी चरण-रजसे अहल्या तर गयी—

'पद रज परसि तरी मुनि नारी।'

भरतकी रजोपासनाके अनुयायियोंका रामचरितमानसमें एक सम्प्रदाय ही बन गया। भरतजीने अपनी साधनाके

क्रममें इसे प्रथम स्थान दिया। जलन मिटानेके लिये चरण-रजोपासनाका द्वितीय क्रम आरम्भ होता है—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

जिन चरणोंके देखनेके लिये दारुण दीनता बतलायी थी, वे सरोज-चरण समक्ष थे। उन्हींके नहीं, अवधवासियोंके समक्ष भी थे। चरण-सरोजपर सिर रखने और रखानेका उत्सव ही चित्रकूटमें मनाया जा रहा था। राम, लक्ष्मण, सीता महारानी माताएँ, गुरु, अयोध्यावासी शत्रुघ्न आदि चरणोंके 'दरसन-परसन'का आदान-प्रदान कर रहे थे।

इसके अनन्तर तीसरा अध्याय भरतकी आराधनाका आरम्भ होता है। जब यह निर्णय हो गया था—राम वनसे नहीं लौटेंगे, तब इतना लंबा अवधिका समय पार करनेके लिये अवलम्बन चाहिये। माँगा तो—

'प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं'

प्रभु-चरण-रजसे परिमार्जित स्वर्णमण्डित पाँवरी प्रभुने दे दी। भरतजी उन्हें अपनी साधनासे पारस बनानेके लिये अपने सिरपर धारणकर ले चले।

भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
आखर जुग जनु जीव जतन के॥

चरण-रजसे मँजी हुई, सुघरी हुई स्वर्णमण्डित पाँवरी अयोध्याके राजसिंहासनपर सुशोभित हुई। भरतजी उसे अपने सिरपर रख राजमार्गसे राजसी वैभवको ले गये। उन्होंने जगत्‌को यह साधनाका क्रम बतलाया। पद, रज, चरणसरोज और कृपापाँवरी 'नित पूजत प्रभु पाँवरी' और इतनी शक्तिका समावेश उनमें कर दिया कि—

'मागि मागि आयसु करत—राजकाज ....'

ऐसी पद-रजसे विशुद्ध साधनाका क्रम। यह था, 'पद-रजाभिषेक'—न कि 'राज्याभिषेक'।

दुःख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषण-भव-ताप-अपहरणका कारण बनी यह साधना—

मुनिमन-अगम यम-नियम, शम-दम, व्रत कौन कर सकता था और—

'तुलसीसे सठहि हठि राम सनमुख करत को ?।'

बालकाण्डके आरम्भमें कह चुके हैं—

श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक।

स्वामी रामतीर्थका कथन सर्वथा सत्य है—पुस्तकोंके पढनेसे ज्ञान मिलता है परंतु अध्यात्मशक्तिका अरुणोदय तो गुरु-चरण-रज लगानेसे होता है। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लाद कहते हैं—

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।'
(७।५।३२)

राजा रहूगण (स्कन्ध ५, अध्याय १२, श्लोक १२ में) कहते हैं—

'नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।'

'महत्-पद-रजके लगानेसे ही मानव-जातिके हृदय, सिर और नेत्र प्रकाशयुक्त होते हैं। इस रजोपासनाकी साधनाका क्रम महामना भरतकी साधनामें क्रमबद्ध है। भव-तापकी आँचसे जब जीवके हृदयमें भयंकर जलन होती है, तब रज शीतलता लाती है, पद आनन्द देते हैं। पद-पाँवरी साधना-को स्थैर्य प्रदान करती है। और पाँवरी-पूजनके समय—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

यह दशा हो जाती है। यही साधनाका क्रम महाराज जडभरतका भी था।

—अनुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्य........
(श्रीमद्भा० ५।७।१२)

नयनसे जलधार बहने लग जाती है।
साधना नयी नहीं, क्रमागत है,
सरल है, सर्वजनगम्य है।

मन चेत करो

दस मास रहे जब गर्भ महीं, तब ही प्रभु सौं तुम कौल किया।
अब बाहर है हरि-भक्ति करौं, तेहि कारन तोहि निकारि दिया॥
इत आय बढ़े तुम भूलि गये, तेहि तें दिन रात भये दुखिया।
कवि 'दीहल' हे मन! चेत करौ, भज राम-सिया जिन जन्म दिया॥

—भक्त श्रीदीहलजी

मैं और वह

(लेखक—डा० शचीन सेनगुप्त)

मैं—तुम छिपे क्यों रहते हो ?

वह—छिपकर तुम्हें देखना मुझे अच्छा लगता है ।

मैं—तुम तो मुझे देख पाते हो, पर मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता । तुम्हारे और मेरे बीचमें आड़ है, इसीसे मैं तुमको नहीं देख पाता ।

वह—उस आड़को तुम हटा दो।

मैं—वह मेरे हटानेसे हटेगी ?

वह—बार-बार प्रयत्न करो, मन-प्राण लगाकर भिड़ जाओ, एक दिन वह आड़ हट जायगी ।

मैं—यह तुम्हारा छल है । मुझे दर्शन नहीं देना है, इसीसे ऐसी बात कह रहे हो ।

वह—नहीं-नहीं, सत्य कहता हूँ—एक दिन यह आड़ हट जायगी—लगे रहो ।

× × ×

वह—तुम रो रहे हो ? अच्छी बात है, मैं तुम्हारे और भी समीप सरक आया हूँ । अब मुझे देखो ।

मैं—कहाँ ? मुझे तो नहीं दिखायी देते ।

वह—और भी समीप चला आया हूँ । तुम्हारे अन्तरके एकान्त कोनेमें चुपचाप खड़ा हूँ । अब मुझे देख पाते हो ?

मैं—न, मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता ।

वह—अब मैं बाहर निकलकर ठीक तुम्हारी आँखोंके सामने खड़ा हूँ । देख पा रहे हो ?

मैं—नहीं, मैं तो नहीं देख पाता । तुम मेरी आँखोंका रंग बदल दो । इन आँखोंसे मैं तुम्हें नहीं देख पाऊँगा ।

वह—तुम मुझे क्यों इतना देखना चाहते हो ?

मैं—इसलिये कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ ।

वह—अच्छा तो, क्या बिना देखे प्रेम नहीं किया जा सकता ?

मैं—मैं तुमसे अत्यन्त प्रेम करता हूँ, इससे तुम्हें सदा ही देखना चाहता हूँ ।

वह—मुझे केवल देखना ही चाहते हो ?

मैं—तुम्हारा दरस चाहता हूँ, तुम्हारा परस चाहता हूँ । अरे, मैं तुम्हें चाहता हूँ । तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकता ।

वह—अच्छा तो, मुझे तुम भूल गये थे—अब फिर मुझे क्यों चाहते हो ?

मैं—तुम्हारे बिना मेरा दम घुटा आ रहा है । मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता ।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम क्यों करते हो ?

मैं—तुम जो मुझसे प्रेम करते हो, इसीलिये तुमसे मैं इतना प्रेम करता हूँ ।

वह—तुमसे तो और भी कितने ही लोग प्रेम करते हैं।

मैं—वे स्वार्थके काँटेपर प्रेमको तौलकर प्रेम करते हैं; तुम इसलिये प्रेम करते हो कि तुम्हें प्रेम करना ही है ।

वह—वाह ! तुम्हारी बात तो बड़ी मीठी है ।

मैं—तुम मेरे पास हो इसीसे । इसके सिवा, तुम्हीं तो मेरी बातोंका योग लगा देते हो, इसीसे तो मेरी बात मीठी है । तुम जो कितने अधिक मीठे हो, इसे तुम क्या नहीं जानते ?

वह—अच्छा तो, मैं तुम्हारे पास-पास ही रहूँगा । कभी दूर नहीं जाऊँगा । फिर भी मुझे देखना क्यों चाहते हो ?

मैं—मैं तुमको सर्वदा मेरा बना लेना चाहता हूँ । मैं

तुमको सदा अपनी आँखोंके सामने रखना चाहता हूँ।

वह—मेरे और भी कितने काम हैं ?

मैं—फिर तुम छल करने लगे।

वह—तुम फिर रोने लगे ? अच्छा तो यह लो; तुम्हारी आँखोंका रंग बदल दिया। अब देखो तो।

मैं—वाह ! वाह ! कैसा विचित्र मैं तुम्हें देख पा रहा हूँ। क्या रूप है तुम्हारा ? जिधर देखता हूँ, उधर ही तुम्हें देखता हूँ। सभी तुम्हारे रूप हैं, कैसा सुन्दर रूप है। सारा विश्व केवल तुम्हारे ही अपरूप रूपसे जगमगा रहा है। रूपकी कैसी बहार है…… …।

वह—अब जरा अपनी ओर तो देखो !

मैं—अपनेको तो मैं देख ही नहीं पाता—यह तो तुम-ही-तुम हो।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम करते हो, इसीसे मैं भी आज तुम-ही-तुम हो गया हूँ।

—उज्जीवन

परोपकारी झरगद

(कहानी—सच्चे तथ्योंके आधारपर)

(लेखक—श्रीवीरबहादुरसिंहजी चौहान, बी० ए०, प्रभाकर)

झरगद शान्त और गम्भीर स्वभावका बालक था। अन्य लड़कोंकी भाँति चपलता तथा उच्छृङ्खलता उसमें नाममात्र-को न थी। वह उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ था; किंतु माँ-बापकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अतः उसकी शिक्षा प्राइमरी स्कूलके बाद जारी नहीं रह सकी।

झरगद चौदह वर्षका नहीं हो पाया था कि अकस्मात् उसके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। झरगद अपने माँ-बापका इकलौता बेटा था। उसके कोई अन्य भाई-बहिन नहीं थे। चाचा-ताऊ भी नहीं थे। यहाँ तक कि सम्बन्धियोंमें भी कोई न था। वह संसारमें अकेला था। पैतृक सम्पत्तिके नाम उसके पास केवल दो बीघा भूमि थी। यही उसके उदर-पोषणका अवलम्बन था। गाँववालोंको दया आ गयी, वे उसकी सहायता करने लगे।

कुछ दिनों बाद गाँवमें एक महात्मा आये। वे तीन दिन ठहरे। महात्माजीने उपदेश देते हुए कहा—'यह जीवन नश्वर है। इसपर अभिमान मत करो। भगवान्‌ने तुम्हें किसी मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये पैदा किया है। वह उद्देश्य है—सेवा। प्राणिमात्रकी अधिक-से-अधिक सेवा। क्रोध, लोभ, मोह, मिथ्याका—जहाँतक हो सके—त्याग करो। एक दूसरेके साथ सहयोग और सद्भावना रक्खो। संसार तुम्हारा है और तुम संसारके हो। तुम्हारा संसारमें कुछ नहीं है और संसारका तुममें कुछ नहीं है। सोच-विचारकर काम करो। केवल समझ-का अन्तर है। समझकर काम करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।'

महात्माजीके इस उपदेशने झरगदके हृदयको छू लिया। उसने प्रतिज्ञा की—मैं अपना जीवन संसारके अधिक-से-अधिक हितमें लगाऊँगा; क्योंकि यह मनुष्य-देह मेरे लिये नहीं, मेरी मौज-शौकके लिये नहीं, बल्कि दूसरोंकी सेवाके लिये मुझे दी गयी है।

—और उसकी जिंदगी एक विशेष दिशाकी ओर मुड़ गयी।

वह दिनभर काम करता। शामको मन्दिरमें सामूहिक प्रार्थना और कीर्तनमें शामिल होता। वह बिना नागा मन्दिरमें जाता। यदि किसी दिन शामको देर हो जाती और समयपर मन्दिर न पहुँच पाता तो वह जहाँ भी होता, वहीं बैठकर प्रार्थना और कीर्तन करने लगता। उसका कहना था—बिना भगवान्‌को याद किये उसका मन बेचैन रहता है और उसे शान्ति नहीं मिलती।

यह क्रम वर्षों चलता रहा।

अब झरगद अपनी जीविका स्वयं उपार्जन करता था। वह किसीके सहारे न था। वह महीनेमें सिर्फ दस दिन काम करता और इतना कमा लेता जिससे कि शेष बीस दिन बैठ-कर खा सके। इन बीस दिनोंका उसका विचित्र कार्यक्रम रहता। वह निठल्ला नहीं बैठता था। और दिनोंकी अपेक्षा इन दिनोंमें वह अधिक व्यस्त दिखायी देता।

गाँवोंमें अधिकतर रास्ते ठीक नहीं होते। नालियाँ गंदी रहती हैं। झरगद पुराने रास्तोंपर उगी हुई घास-फूस और काँटों-कंकड़ोंको साफ करके उनकी मरम्मत करता तथा नये-नये रास्ते बनानेमें बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करता। उसे गंदी नालियोंकी सफाईमें आनन्द आता था। गाँवके अंदर या बाहर जहाँ भी अच्छी जमीन दिखायी देती, वहाँ वह पेड़ लगा देता और उन वृक्षोंकी सम्यक् देखभाल करनेमें कभी ढील नहीं करता तथा गरमीकी दोपहरीमें जब चील अंडा छोड़ती और लोग खसकी टट्टियोंके अंदर बिजलीके पंखोंके नीचे पड़े बर्फसे गला तर करके गरमीकी तपनको मिटाते, तब झरगद एक लँगोटा लगाये दूर-दूरसे पानी लाकर वृक्षोंकी जड़ोंमें सींचता और कहता 'ये वृक्ष हमें फल देंगे, छाया देंगे और पानी बरसनेमें मदद करेंगे। ये किसी एककी सम्पत्ति नहीं हैं, सबके हैं।' जैसे निःस्वार्थ सेवा ही उसकी जिंदगी हो गयी हो।

एक बार गाँवमें जोरोंका प्लेग फैला। काफी संख्यामें आदमी मरने लगे। झरगदको न दिनमें चैन मिलता और न रातमें आराम। उसे नींद हराम हो गयी। वह रात-दिन एक करके रोगियोंकी परिचर्यामें लगा रहता। बाजारसे दवा लाकर रोगियोंको पिलाता और उनका सब प्रकारसे ध्यान रखता। वह असहाय और अनाथोंकी ओर ज्यादा गौर करता। प्लेग बड़ी भयंकर बीमारी है, उसने स्पष्ट देख लिया। जो आदमी एक घंटा पहले स्वस्थ था, उसके अचानक गिल्टी निकली, बुखार आया और दूसरा घंटा तब बीता, जब उसका दम निकल गया। उसने जीवनकी क्षणभङ्गुरताके साक्षात् दर्शन किये। वास्तवमें इस जिंदगीका कोई ठिकाना नहीं है। निश्चय ही यह पानीके बुलबुलेकी भाँति है, जो एक क्षणमें उठता है और पलभर ठहरकर दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है।

आजकल कुछ ऐसा रिवाज हो गया है कि स्कूलके अधिकांश विद्यार्थी बीड़ी पीने लगे हैं और कालेजके सिगरेट। झरगद लड़कोंको बीड़ी या सिगरेट पीते देखता तो समझाता—'बुरी आदत है। इससे कलेजा जलता है। मुँहमें बदबू आती है। पैसा बर्बाद होता है सो अलग। मत पिया करो भाई! भविष्यमें नहीं पियोगे न!' और उसकी वाणी कुछ ऐसी सरस, मधुर और प्रभावोत्पादक थी कि विद्यार्थी एक बार धूम्रपान न करनेकी बात जरूर कह देता।

गाँवमें दो शराबी थे। झरगद उन्हें बहुत समझा चुका था, पर वे मानते न थे। उनकी घरकी हालत बिगड़ती जाती थी। कभी अनाज न रहता, कभी कपड़ा। कभी औरतें नमक-तेल-लकड़ीके लिये बैठी रहतीं, कभी साग-सब्जीके लिये। पुष्ट भोजनके अभावमें बच्चे पीले पड़ गये थे। उनके पेट निकल आये थे। झरगद इनकी काफी मदद करता और शराबियोंकी आदत छुड़ानेके लिये विभिन्न उपाय काममें लाता। एक दिन दोनों शराबी नशेकी हालतमें बक-झक रहे थे। आपसमें गाली-गलौज कर रहे थे। इसी समय झरगद आ पहुँचा। उसने मना किया। शराबियोंको गुस्सा आ गया। दोनों झपट पड़े। झरगदको खूब पीटा। उसका सिर फूट गया। टाँगमें भी चोट आयी। अन्य लोगोंको मालूम हुआ तो उन्होंने झरगदसे कहा—'झरगद! तुम कहो तो हम उन दोनोंका नशा उतार दें। इतना पीटें कि कचूमर निकल जाय। तब अपने-आप ठीक हो जायँगे।'

'नहीं, भाई!' झरगदने नम्र स्वरमें जवाब दिया। 'ऐसा मत करना। वे नहीं जानते थे कि हम क्या कर रहे हैं। उन्हें समझ होती तो वे ऐसा नहीं करते। मेरी समझमें कोई आदमी यह समझ लेनेपर कि यह काम बुरा है, उसे करनेको कभी तैयार नहीं होगा।' और इस घटनाका प्रभाव ऐसा पड़ा कि उन दोनोंने हमेशाके लिये शराब छोड़ दी। थोड़े दिनोंमें उनकी गृहस्थी फलती-फूलती दिखायी देने लगी।

झरगद सबका प्रिय हो गया था। बच्चे उसे दादा कहते। समवयस्क उसे भाई कहकर पुकारते। अधिक उम्रवाले उसे अपने लड़केकी तरह प्यार करते। वह सबसे हिल-मिलकर चलता। उसकी बातचीत और व्यवहारसे सब लोग प्रसन्न थे।

झरगदने पक्का विचार कर लिया था कि वह विवाह नहीं करेगा। उसकी कुछ ऐसी धारणा हो गयी थी कि यदि उसने विवाह किया तो उसे सेवाके विस्तृत क्षेत्रसे वञ्चित रह जाना होगा। लोग कहते—'झरगद! तुम जल्दी विवाह कर डालो। अपनी गृहस्थीकी देखभाल करो। तुम्हें कभी-कभी तो सूनापन महसूस होता ही होगा।'

वह जवाब देता—'गाँवमें इतने लोग हैं। कोई बाबा है, कोई चाचा है, कोई ताऊ है। भाई-भतीजे हैं। स्त्रियोंमें दादी, चाची, भावज और बहुएँ हैं। बहिनें तथा भतीजियाँ हैं। पूरा गाँव ही मेरा परिवार है। इतने जनोंके बीच मेरा समय आसानीसे कट जाता है। मुझे पत्नीका अभाव जरा भी नहीं खलता।'

और उसने विवाह नहीं किया।

देखा गया है झरगद-सरीखे सीधे-सच्चे किंतु उच्च विचार-आचार और क्रिया-कलापके मनुष्योंको दीर्घ आयु नहीं प्राप्त होती। पर वे अल्प समयमें ही इतना काम कर जाते हैं जिससे उनकी स्मृति अमर हो जाती है।

गरमीके दिन थे। रात आधी बीत चुकी थी। अचानक एक मकानमेंसे आवाज आयी—'चलो, जल्दी चलो। आग लग गयी।' लगभग समूचा गाँव जमा हो गया। मकानके अंदर आगकी लपटें उठ रही थीं। छतोंसे धुएँके गुब्बारे निकल रहे थे। लोग पानी फेंककर धूल उछालकर आग बुझानेका यत्न कर रहे थे। तभी एक स्त्रीकण्ठ सुनायी दिया—'हाय, हाय! मैं लुट गयी। मेरा लड़का आँगनमें सोता रह गया। अरे, है कोई जो मेरे बच्चेको बचाये। अब मैं क्या करूँ!' गाँववाले एक दूसरेका मुँह ताकने लगे। किसीकी हिम्मत नहीं हो रही थी कि जलती आगमें कूद पड़े। इससे पहले कि लोग किसी निश्चयपर पहुँचें, उन्होंने देखा झरगद भागकर मकानमें घुस गया। दस मिनट बाद वह बच्चेको कपड़ेमें लपेटकर बाहर निकाल लाया। बच्चा बच गया। उसका बाल बाँका न हुआ। लेकिन झरगद बुरी तरह जल गया। उसके मुँह, हाथ-पैर काफी जल गये थे। वह कराहता हुआ जमीनपर गिर गया।

आगपर काबू पानेके बाद लोगोंका ध्यान झरगदकी तरफ गया। उसकी हालत बिगड़ रही थी। उसे अस्पताल ले चलनेकी तैयारी की जाने लगी। झरगदने सुना तो बोला—'अरे भाई! क्यों नाहक परेशान होते हो। अब यह मिट्टीका पुतला मिट्टीमें मिलने जा रहा है। देर नहीं है। मुझे अफसोस इस बातका है कि मैं आपलोगोंकी कुछ भी सेवा न कर सका। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ वे मुझे फिर पैदा करें तो बस, इसी गाँवमें पैदा करें, जिससे मैं आपके कुछ काम आ सकूँ। आपलोगोंसे मेरी विनती है कि जिस तरह सब हिल-मिलकर अभीतक रहते आये हैं, वैसे ही भविष्यमें भी रहनेकी कोशिश करें। लड़ाई-झगड़ा शुरूमें दुःखदायी होता है और अन्तमें भी। प्रेमसे मिल-जुलकर रहनेमें ही भलाई है। सहयोगसे काम करें। एक दूसरेके प्रति सहानुभूति रक्खें और सबसे बड़ी बात याद रखनेकी यह है कि चौबीस घंटेमें कम-से-कम एक बार ईश्वरका भजन-कीर्तन, जप-ध्यान अवश्य कर लिया करें। इससे बड़ी शान्ति मिलती है। भगवान् सबको सुखी रक्खे।'

कुछ देर और टिमटिमाकर झरगदका जीवन-प्रदीप बुझ गया।

इस समय गाँवके सभी लोग, बालक-युवा-वृद्ध और स्त्रियाँ उस जगह एकत्र हो गयी थीं। जो इतने वृद्ध और शिथिल थे कि चलने-फिरनेसे लाचार थे, वे भी गिरते-पड़ते जैसे-तैसे झरगदको देखने आ पहुँचे थे। बड़ी भीड़ थी। सिसकते हुए बच्चोंने कहा, 'हमारा दादा चला गया।'

झरगदके साथी बोले—'हमारा सच्चा दोस्त साथ छोड़ गया।'

वृद्ध पुरुष कहने लगे, 'हमारे बुढ़ापेका सहारा छूट गया।'

वृद्ध स्त्रियाँ बोलीं, 'हमारी आँखोंका तारा प्यारा बेटा उठ गया।'

सभीकी आँखोंसे आँसू झरझर बह रहे थे।

धिक्कार है

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति नियतं कीर्तनस्थो मृदङ्गः॥

(श्रीधरस्वामी)

जिन मनुष्योंकी यशोदानन्दनके चरणकमलोंमें भक्ति नहीं है, जिनकी रसना गोपकुमारियोंके प्राणाधारके गुणगानमें अनुरागिणी नहीं है और जिनके कर्ण अति ललित श्रीकृष्ण-लीला-सुधा-रसके प्यासे नहीं हैं, उनके लिये कीर्तनमें बजता हुआ मृदङ्ग धिक् तान्, धिक् तान्, धिगेतान् (उन्हें धिक्कार है! धिक्कार है, धिक्कार है!)—ऐसा कहता है।

हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

एक संस्कृति, जिसकी परम्परा अनादि है, सदा एक-से आहार-व्यवहार रख सके—ऐसा सम्भव नहीं है। अभी विगत शताब्दियोंमें मुसल्मानों तथा अंग्रेजोंके शासनकालमें हमारे आचारपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे हमारे यहाँके वेष-भूषा, भोजन, गृहनिर्माण, वस्त्रादि सज्जा तथा रीति-रिवाजोंमें भी अद्भुत परिवर्तन हुए हैं। ऐसे प्रभाव चाहे पहले इस रूपमें न पड़े हों, परंतु कुछ तो पड़े ही होंगे। इतनेपर भी प्रत्येक संस्कृति अपना एक मौलिक मापदण्ड अवश्य रखती है अपने आचारके लिये और जैसे ही काल-क्रमसे क्षीण हुई उसकी शक्ति लौटती है, वह पुनः अपने आदर्शकी ओर जानेका प्रयत्न करती है। इस स्थितिमें बाह्य प्रभाव निरस्त हो जाते हैं। अवश्य ही यह बात उन समाजोंके लिये नहीं है, जो अविकसित हैं और जिन्हें दूसरों-से कुछ सीखना है।

'हिंदू-संस्कृति' एक पूर्ण संस्कृति है। हमारे समाजके लिये प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसके कर्तव्य शास्त्रोंने निश्चित कर दिये हैं। 'आचारः प्रथमो धर्मः।' आचारकी रक्षा प्रथम धर्म प्रतिपादित हुई है। समाज जबतक दुर्बल है—अपने विकारोंसे आक्रान्त है या विवश है, वह भले बाह्य प्रभावों और आचारोंको ग्रहण किये रहे; किंतु जैसे ही बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक दृष्टिसे समाज स्वतन्त्र होगा—समर्थ होगा, उसे स्पष्ट दिखायी देगा कि शास्त्राचारके पालनमें ही उसकी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति है। शास्त्रीय आदेश जीवनकी प्रत्येक स्थिति एवं दशाको नियन्त्रित करते हैं। जीवनमें ऐसा कोई भाग नहीं, जहाँ शास्त्राचारसे भिन्न प्रभाव स्थिर रह सके। हिंदू-समाज ही नहीं—सम्पूर्ण मानव-समाज—पूरा विश्व अपनी विकृत मनोवृत्तिसे त्राण पा ले तो वह अनुभव करेगा कि मनुष्यका कल्याण हिंदू-समाजके आचारके पालनसे ही हो सकता है। यह इसलिये भी सत्य है कि आदिकालमें सम्पूर्ण मानव-जाति हिंदू ही थी। आदि संस्कृति ही पूर्ण एवं निर्दोष थी, यह तो अब सिद्ध हो चुका है।

हिंदू !

यहीं 'हिंदू' शब्दपर भी विचार कर लेना है। कहा जाता है कि हिंदुओंके यहाँ उनके समाजमें राष्ट्रकी और जातिकी भावना नहीं थी। न तो उन्होंने पूरे राष्ट्रका कोई नाम रक्खा और न जातिका। 'हिंदू' शब्द तो अर्वाचीन है। एकांशमें ये बातें सत्य हैं। किसीके नामकरणकी आवश्यकता दूसरेकी अपेक्षासे होती है। अनेक पशुओंके ढेरमें गाय, बकरी, घोड़ा—ये भेद किये जाते हैं। अनेक रंगोंकी गायोंमें रंगसे भेद होता है और अनेक गायें एक रंगकी हों तो उनका नामकरण करना पड़ता है। जहाँ केवल गायें हैं, वहाँ उनको 'गाय' यह नाम देना व्यर्थ होता है। आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति है और दूसरे सब धर्म कुल तीन सहस्र वर्षोंके भीतर ही उत्पन्न हुए हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। जब विश्वमें एक ही धर्म था, तब धर्मकी दृष्टिसे उसका नामकरण क्यों आवश्यक होता ? उस समय जिन शास्त्रोंने नामकरण किया, उन्होंने क्या सम्पूर्ण समाजको मनुष्य नहीं कहा ? क्या यह 'मनुष्य' नाम उसी प्रकार मनुकी संतति, अनुयायीका सूचक नहीं, जिस प्रकारके नाम ईसाई और मुसल्मान हैं ! उस समय मनुष्यको विश्वके शेष प्राणियोंसे ही भिन्न नाम देना था। मनुष्य-समाजमें धर्मगत भेद नहीं था। आचार-गत भेदके कारण आर्य, दस्यु, म्लेच्छ, यवन प्रभृति नाम पड़े ही थे। जातिगत भेद और व्यवसायगत भेदके कारण भी ये नाम पड़े।

'हिंदू' यह—नाम जैसे कि आजकल कहा जाता है कि विदेशियोंने हमारी जातिको दिया, यह बात ठीक न होनेपर भी मान लें तो हानि क्या है। यह नाम हमारी जातिको मुसल्मानोंने दिया—यह भ्रम जिन्हें हो, वे पारसी-धर्मग्रन्थ देखें। वहाँ 'पूर्वी हिंदू' और 'पश्चिमी हिंदू' शब्द स्पष्ट आये हैं। साथ ही यह भी कि यदि हिंदू-शब्दका कोई निन्दित अर्थ होता तो पारसी-धर्म ग्रन्थ अपनेको पश्चिमी हिंदू न कहते। पीछेके ईरानी कोषकारोंने 'हिंदू' शब्दका अर्थ डाकू, दास, सेवक, पहरेदार दिया है और इसीसे हमारे यहाँके लोग चौंकते हैं; परंतु शत्रुताके कारण एक जातिका नाम दूसरी जातिमें घृणासूचक हो जाता है—यह तो 'देव' और 'असुर' शब्द ही बतलाते हैं। 'देव' शब्द संस्कृतमें जिस सात्त्विकता, तेजका सूचक है, पारसी ग्रन्थोंमें 'असुर' शब्द उसी अर्थमें आता है। हमारे यहाँ 'असुर' जिस अर्थमें है, फारसी-अंग्रेजीमें 'देव' शब्द उसी अर्थमें है।

पारसी-धर्मके ग्रन्थोंमें तथा ईरानके प्राचीन साहित्यमें भारतीय एवं पारसीक दोनों जातियोंको हिंदू कहा गया है। रही विदेशियोंद्वारा नामकरणकी बात सो सदा दूसरे ही नाम लेकर पुकारते हैं। आज अमेरिकामें भारतसे हिंदू जाय या ईसाई, सब हिंदू ही कहे जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व जिस देश और जातिको जर्मनी तथा जर्मन कहता है, वे स्वयं अपनेको डोइट्श और देशको डोइट्शलैण्ड कहते हैं। अंग्रेज़ोंको हम फिरंगी तो कहते ही हैं। प्रत्येक विदेशी जाति दूसरेको स्वेच्छानुसार नाम देती है और इसका उसे अधिकार है। यह सब होकर भी 'हिंदू' नाम स्वयं हमने अपनी जातिका रक्खा है, यह दूसरेका दिया हुआ नाम नहीं है।

वेदोंमें 'नेता सिन्धूनां' तथा 'पतिः सिन्धूनां' ये मन्त्र स्पष्ट बतलाते हैं कि हमारे देशका नाम 'सिन्धु' है और यही जातिका नाम भी है। सिन्धु नदीके उत्तरी भागमें सिन्धु और सरस्वतीके मध्यमें ब्रह्मावर्त ही मानव-जातिकी प्रारम्भिक निवास-भूमि है। उसी सिन्धुके कारण देशको सिन्धु कहा गया। वेदोंमें ही 'स' का परिवर्तन 'ह' हो जाता है। श्रुतियोंमें 'शिरा' और 'हिरा' दोनों नाम नाडियोंके लिये आये हैं। अतएव सिन्धुका 'हिन्दु' आदिकालमें ही हो गया। पारसी धर्मने वैदिक पद्धतिका एक अंश ले लिया; क्योंकि यह धर्म वैदिक धर्मसे ही पृथक् हुआ है। वेदोंमें 'स' का 'ह' कार रूपमें प्रयोग है; यह पद्धति विकृत हुई और पारसी भाषामें सप्ताह भी हप्ताह हो गया; पर 'सिन्धु' को 'हिंदु' उन्होंने किया है, यह मानना ठीक नहीं है। यह परिवर्तन स्वयं संस्कृतिके नियमानुसार हुआ है। आज हिंदीमें ग्यारह, बारह, तेरह आदि क्रमशः एकादश, द्वादश, त्रयोदशके रूप हैं और सबमें 'स' का रूप 'ह' हो गया है। प्राकृत भाषामें भी 'स' का उच्चारण 'ह' बहुत स्थलोंपर हो जाता है।

इस तरह जैसे 'हिंदू' नाम अपनी जातिको हमने स्वयं दिया और इसलिये दिया कि आचारसे च्युत जातियोंसे मूल जातिका पार्थक्य किया जा सके, उसी प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण विश्वमें भारतसे ही क्षत्रिय जाति जाकर बसी, उस समय पूरी पृथ्वी ही एक राष्ट्र थी, समस्त देशोंके लोग अपने आचारका आदर्श यहींसे ग्रहण करते थे, विश्वमें एक ही संस्कृति थी और भारतीय सम्राट् विश्वविजयी चक्रवर्ती होते थे, इस प्रकार जाति-धर्म-आचार तथा शासनकी दृष्टिसे राष्ट्र-भेदकी कल्पना शक्य नहीं थी, फिर भी भारत पुण्यभूमि है—यह भावना अनादि कालसे शास्त्रोंमें प्रतिपादित है। इस पुण्यभूमिकी एकता, स्वरूप आदिके सम्बन्धमें तनिक भी संशयको अवकाश नहीं है।

आचारका आदर्श

हमने अपनी जातिका नाम 'सिन्धु' के आधारपर 'हिंदू' रक्खा क्यों? संस्कृतमें तो कोई शब्द निरर्थक नहीं होता और न कोई परिवर्तन व्यर्थ किया जाता। 'हीनं दूषयतीति हिंदुः' यह मेरु तन्त्रकी परिभाषा है। झूठ बोलनेवाला, शास्त्रीय कर्मोंसे द्वेष करनेवाला, उपस्थान (संध्यादि कर्म) न करनेवाला, निरुक्त (अपने असत् तर्कपर हठ करनेवाला) और आमन्त्रित करके आये व्यक्तिका अपमान करनेवाला—ये पाँच प्रकारके लोग 'हीन' कहे गये हैं। जो इन्हें अपने समाजसे निकाल दे, वह हिंदू कहलाता था। यह हमारे समाजका आदर्श था। इस शब्दकी दूसरी व्याख्या है—हिन्-हिंसां दुनोति—हिंसाका नाश करनेवाला—अहिंसक। यही शब्द यूनानीमें 'ह' का लोप होनेसे 'इन्दु' बन गया और उससे 'इण्डिया' अंग्रेजीमें बना। जातिके नाममें ही हमारे समाजका आदर्श निहित है और नामकरणकी हमारी सनातन प्रणाली भी यही है।

हिंदू-समाजका समस्त आचार इस आदर्शको सम्मुख रखकर चलता है कि प्राणियोंको कष्ट न हो। मनुष्य अन्तर्मुख बने। बहिर्मुख प्रवृत्ति असंतोष एवं संघर्ष उत्पन्न करती है। उससे प्राणियोंको कष्ट होता है और जीवनमें दुःखोंकी ही वृद्धि होती है। शान्तिका मार्ग है अन्तर्मुख होना। दूसरोंके लिये अधिक-से-अधिक त्याग और अपने लिये कम-से-कम संचय तथा उपभोग—हिंदू आचारका यह मुख्य आदर्श है। विश्वमें सुख एवं शान्तिकी स्थापनाका इससे सुलभ मार्ग कुछ हो नहीं सकता।

जीवन इतना ही नहीं है। वह अनादि और अनन्त है। यह लौकिक जीवन उस जीवनका अत्यन्त क्षुद्र अंश है। इतनेपर भी मनुष्यका जीवन अत्यन्त बहुमूल्य है। यह कर्मयोनि है। इसी योनिके कर्म शेष समस्त जीवनोंमें भोगने हैं। यह उपार्जनका स्थान है। सत् या असत् जैसे भी कर्म किया जायगा, उसे ही भोगना पड़ेगा। सम्पूर्ण जीवोंमें केवल शरीर-भेद है। हम आगे किसी भी जीवके यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। कहा नहीं जा सकता कि कौन हमारा पूर्वजन्मका

सम्बन्धी है और आगे कौन बनेगा । इस प्रकार प्राणिमात्रसे आत्मीयता तथा सत्कर्मकी प्रेरणाको जितना व्यापक, सुदृढ़, पूर्ण आधार हिंदू-संस्कृति देती है, वह अन्यत्र अप्राप्य है । इसी आधारपर हिंदू-समाज प्रतिष्ठित है ।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा ।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥
(मनु० ८ । २८५)

'जो व्यक्ति वनस्पतियोंको जिस-जिस प्रकारके कष्ट दे, राजा उसकी इस हिंसाका दण्ड उसे उसी-उसी प्रकारसे दे ।' यह आज्ञा स्पष्ट घोषित करती है कि जीव-हिंसा तो दूर रही, वृक्षादि काटना भी अपराध माना जाता था और उसका बड़ा कठोर दण्ड मिलता था । मनुस्मृतिमें ईंधनके लिये गीले पेड़को काटना और अपवित्र भोजन एक कोटिके पाप माने गये हैं । ब्राह्मण भी यदि आवश्यकतावश विवश होकर किसी फल या पुष्प देनेवाले वृक्ष या लताको काटे-छाँटे तो उसे एक सौ ऋचाओंका जप करके इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहिये, ऐसा निर्देश है ।

इसमें किसीको कहीं शङ्का नहीं है कि हिंदू-संस्कृति धर्म-प्राण है । धर्माचारसे ही लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय होता है, यह शास्त्रोंका स्पष्ट घोष है । अतएव समस्त हिंदू आचार धर्मको प्रधान मानकर चलता है । मनुष्यके सामाजिक जीवनमें अर्थ और काम ही प्रधान हैं । वर्तमान शब्दोंमें मनुष्यकी समस्या रोटी और संतानोत्पादन है । हिंदू-समाजने इन दोनों आवश्यकताओंको स्वीकार तो किया, किंतु गौण रूपसे । ये मुख्य आवश्यकताएँ नहीं हैं । मनुष्यका मुख्य लक्ष्य है मोक्ष । वह इस कर्मक्षेत्रमें इसलिये आया है कि यहाँ उद्योग करके जीवन-मरणके चक्रसे छूट जाय । भोजन तथा संतानोत्पादन तो कीड़े भी करते हैं । मनुष्य भी इसीमें लगा रहा तो उसमें विशेषता क्या हुई । मोक्षको प्रधान उद्देश्य माननेपर धर्म प्रधान हो गया । धर्मके द्वारा ही अन्तः-करणकी शुद्धि होगी और तभी ज्ञानोदय होकर मोक्ष होगा । अतएव समाजके व्यवहारमें धर्म प्रधान बना । धर्मसे अविरोधी (धर्मसम्मत) 'अर्थ' तथा 'काम' का सेवन तो हिंदू-समाजमें विहित है; किंतु धर्मके लिये जीवनतकका त्याग करनेको प्रस्तुत रहना चाहिये । धर्मके तनिक भी विरुद्ध पड़नेवाले अर्थ या काम सर्वथा त्याज्य हैं; फिर वे चाहे जितने भी महान् क्यों न हों ।

प्रत्येक समाज अपने रहन-सहन अपने आदर्शके अनुकूल ही स्थिर करता है । व्यक्तिको अपना जीवन अपने आदर्शके अनुसार बनाना ही पड़ेगा, यदि वह आदर्शको पाना चाहता है । हिंदू-समाजका आदर्श मोक्ष है—अन्तर्मुखता है । अतएव उसका आचार सर्वथा धर्मसे नियन्त्रित है । उसमें तनिक भी प्रमाद या उच्छृङ्खलताके लिये स्थान नहीं । उसमें प्रत्येक कृत्यका मूल्य धर्म-अन्तर्मुखतासे निर्धारित होता है । संग्रहकी अपेक्षा त्याग वहाँ आदर पाता है । बिना इस बातको हृदयंगम किये हिंदुओंके आचार, रीति-रस्म आदिका महत्त्व तथा उनकी सार्थकता समझमें आ नहीं सकती ।

युगानुरूप आचार

हिंदू-आचारका आधार धर्म है और धर्म नित्य है, अतएव हमारे आचारशास्त्र भी नित्य हैं । आज कहा जाता है कि धर्म समयके अनुसार परिवर्तित होता रहता है, आचार परिस्थितिके अनुसार बदलते रहते हैं । वस्तुतः धर्म तो कभी बदलता ही नहीं । अग्निका धर्म उष्णता है, वह सर्वदा उष्ण रहेगी । आचारका आदर्श भी बदलता नहीं है। परिस्थितिके अनुसार जितना परिवर्तन आचारमें आवश्यक है, उन परिवर्तनोंका भी शास्त्रोंमें विधान है । प्रकृतिमें परिवर्तन अनियमित रूपसे नहीं होते । परिवर्तनके भी नियम हैं। अतः परिस्थिति भी सहसा नहीं बदलती । वह भी नियमानुसार ही उपस्थित होती है । इन नियमोंको जानकर प्रत्येक युगके लिये शास्त्रोंने आचारमें, साधनमें कुछ भेद बतलाये हैं । ये परिवर्तन शास्त्रीय सीमामें ही होते हैं । शास्त्रको छोड़कर जो परिवर्तन समाजमें हो गये हैं, वे परिवर्तन नहीं, विकार हैं । उनके द्वारा समाजका पतन हुआ है—हो रहा है ।

हिंदू-समाजके आचारका नियन्त्रण स्मृतियाँ करती हैं । प्रत्येक युगके लिये स्मृतियोंने कुछ विशेष आदेश दिये हैं । सामान्य आदेश तो सभी युगोंमें पालन करने ही हैं, ये विशेष आदेश ही युगाचार कहे जाते हैं । इन स्मृतियोंके अतिरिक्त गृह्यसूत्र हैं । ये कुलाचारका आदेश देते हैं । इन युगाचार और कुलाचारोंपर ध्यान दिये बिना जो लोग पुराने रीति-रिवाजोंको ढूँढ़ने बैठते हैं, वे बहुत भ्रममें पड़ते हैं ।

हिंदू-संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य मनुष्यको अन्तर्मुख करना है । युगाचार इसीको लेकर आदेश देते हैं । मनुष्यकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जा रही है, यह बात शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियोंसे सत्य है । विश्वमें साधारण

नियम है कि सबलकी अपेक्षा दुर्बलको संयम अधिक करना पड़ता है और श्रम कम । एक योग्य चिकित्सक स्वस्थ, सबल व्यक्तिपर आहारादिके उतने बन्धन नहीं लगाता, जितने एक रोगीपर लगाता है; क्योंकि उसका उद्देश्य स्वास्थ्यको बनाये रखना है । रोगी—निर्बल व्यक्ति सहज ही रुग्ण हो जायगा; परंतु सबल व्यक्ति उन्हीं कार्योंसे सुख प्राप्त करेगा । उसके स्वास्थ्यपर प्रभाव नहीं पड़ेगा । दूसरी ओर सबल व्यक्ति जितना श्रम कर सकता है, निर्बल उतना कर नहीं सकता । मनुष्यकी मानसिक शक्ति क्रमशः क्षीण हुई है । जैसे निर्बल शरीर शीघ्र ही रुग्ण हो जाता है और कठिनतासे आरोग्य प्राप्त करता है, पर सबल शरीरसे रुग्ण भी हुआ तो शीघ्र आरोग्य लाभ करके पूर्व शक्ति प्राप्त कर लेता है । वैसे ही निर्बल मानस अल्प विकारोंको प्रश्रय देकर ही बहिर्मुख हो जाता है और फिर उसे अन्तर्मुख करना बहुत कठिन होता है । सबल मनःशक्ति होनेपर यदि बहिर्मुखता—विषयप्रवृत्ति हुई भी तो वह सरलतासे निवृत्त हो जाती है और फिर पूर्ववत् अन्तर्मुखवृत्ति शीघ्र प्राप्त हो जाती है । हम वर्तमान मनुष्यके जीवनको देखें और पुराणोंके ऋषि-चरित्रोंका गम्भीरतासे मनन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी । इसीलिये शास्त्रोंने क्रमशः संयमकी सीमाएँ प्रत्येक युगमें कड़ी की हैं । निर्बल-रुग्ण-मानस मानवके लिये यह परमावश्यक है । जहाँ संयमकी सीमाएँ कठोर-से-कठोरतर होती गयी हैं, वहीं आध्यात्मिक साधन सरल और सुलभ होते गये हैं । निर्बल मानवके लिये श्रमकी सीमाएँ घटायी गयी हैं। हमारे सामाजिक आचार, शासन, गृह, नगर, यातायात प्रभृति सबपर युगाचारका प्रभाव है । अतः प्राचीन अन्वेषणमें यह बात बराबर ध्यान रक्खे बिना विवेचन भ्रमपूर्ण ही रहेंगे ।

शास्त्रीय जीवन

युगानुरूप आचार एवं साधनोंमें परिवर्तन मनुष्यकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तिके ह्रासको दृष्टिमें रखकर किया गया है, यह ठीक है । ऐसी दशामें सहज ही प्रश्न उठता है कि हिंदू-समाज अपने लिये पूर्ण जीवन कौन-सा मानता है ? यों तो रोगी और दुर्बलके लिये पूर्ण जीवन वही है, जिसका चिकित्सक उसे आदेश दें । सबल पुरुषका जीवन उसकी स्पृहाकी वस्तु हो सकती है, पर आचरणकी वस्तु नहीं । वह उस प्रकार आचरण करके हानि ही उठायेगा । इसी प्रकार आजके युगके लिये शास्त्रोंने जो आचार एवं साधन निर्दिष्ट किये हैं, आज तो वे ही आचरणीय हैं । वैसे मनुष्यका पूर्ण जीवन एवं आचार आदियुगका ही है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

हिंदू-संस्कृति अरण्यानी-संस्कृति है । स्वच्छन्द तपोवनोंमें रहनेवाले त्यागी महर्षिगणोंने इसे पोषित किया है । वे तपोमूर्ति ही इस समाजके आदर्श हैं । आजकल पाश्चात्त्य जगत्‌में प्राकृतिक जीवनपर बल दिया जाने लगा है; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि तपोवनोंके संयमपूर्ण शास्त्रीय जीवन और प्राकृतिक उच्छृङ्खल पशुजीवनमें बहुत अन्तर है । पाश्चात्त्य जगत्‌की यह बात तो ठीक है कि मनुष्यका प्राचीन वन्यजीवन ही अच्छा था । वर्तमान नागरिक जीवनने उसे हीनशक्ति बनाया है; परंतु उनका यह मानना ठीक नहीं कि पुराना जीवन पशुओं-जैसा प्राकृतिक जीवन था । प्राकृतिक जीवन जो पशुजीवन है, वह हिंदू-समाजको न कभी अभीष्ट था और न हो सकता है ।

पाश्चात्त्य जगत्‌के प्रकृतिवादी प्रत्येक कार्यमें पशुओंका उदाहरण देने लगते हैं । डार्विनके विकासवादने उन्हें भ्रान्त कर दिया है । वे नहीं देखते कि आजकी जंगली जातियाँ मांसाहारी ही अधिक हैं और क्रूर, मूर्ख तथा असभ्य हैं । मनुष्यको पशु बनना कभी अभीष्ट नहीं हो सकता । यदि मनुष्य प्राकृतिक जीवनको अपनानेके फेरमें शिक्षा-दीक्षा छोड़ बैठे तो मूर्ख तथा असभ्य हो जायगा । पशुओंमें अपने आहारको पहिचाननेकी स्वाभाविक शक्ति है, वे संतानोत्पादनके सम्बन्धमें निश्चित समयपर प्रवृत्त होनेका स्वभाव रखते हैं, भोजन-प्राप्ति तथा आत्मरक्षणके साधन उन्हें जन्मजात प्राप्त होते हैं । मनुष्यका बालक बिना सिखाये न बंदरकी भाँति तैर सकता और न पेड़पर चढ़ सकता है । वह यह पहिचाननेकी भी शक्ति नहीं रखता कि कौन-सा आहार उसके लिये लाभप्रद है और कौन-सा हानिकर । ऐसा निर्बल प्राणी यदि अपनेको प्रकृतिपर छोड़ देगा तो नष्ट हो जायगा । वन्य जातियोंको भी अपनी बुद्धिके अनुसार बहुत कुछ अप्राकृत व्यवहार करना पड़ता है; यदि वे पूर्णतः पशुओंकी भाँति प्रकृतिपर रहना चाहतीं तो अब उनका पता भी न होता ।

भारतीय आचार तपोवनोंको महत्ता देता है, परंतु उसका अर्थ त्याग है, पशुत्व नहीं । वनोंमें वे महर्षि रहते थे, जो विद्या एवं कलाके प्रज्वलित प्रकाशरूप थे । उन्हींसे सम्पूर्ण

विश्वने अपने लिये आचार, कला, ज्ञानका आदर्श प्राप्त किया। पाश्चात्य विवेचक यह भूल जाते हैं कि सत्य सदा समान रहता है। नियम एक-से ही सब कहीं होते हैं। मनुष्यकी शारीरिक शक्तिका क्रमशः ह्रास हुआ है, यह तो वे मान लेते हैं; पर मानसिक-बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है, इस सम्बन्धमें भ्रममें पड़ जाते हैं। यदि वे इस सत्यको देख सकें कि बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है तो शारीरिक शक्तिकी प्राप्तिके लिये पशुत्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान नागरिक यान्त्रिक जीवन मनुष्यने अज्ञानवश—मोहवश स्वीकार किया है। इससे परित्राण पानेका मार्ग ज्ञानका वास्तविक विकास है। मनुष्यको पशु नहीं—पूर्ण मानव बनना है उसे। शास्त्रीय जीवन प्राप्त करना है। प्राकृतिक जीवन और शास्त्रीय जीवनका भेद ध्यानमें रक्खे बिना हिंदू-समाजके आचारका रहस्य उलझनमें रह जाता है।

हमारे गृह, ग्राम और नगर

हिंदुओंका आचार शास्त्रीय जीवनको आदर्श मानता है, यह निश्चय हो जानेपर निवासका प्रश्न आता है। हिंदू-समाजकी व्यवस्था चार वर्ण और चार आश्रमोंको लेकर है। चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीन आश्रम वनमें रहनेके हैं। गृहस्थाश्रम इसलिये स्वीकार करनेका विधान है कि वह शेष तीनों आश्रमोंका आश्रय है। ब्रह्मचारी और संन्यासीका सत्कार करना गृहस्थका परम कर्तव्य है और अतिथि-सत्कार तो सर्वप्रथम धर्म है ही। गृहस्थाश्रमका जो आदर्श है, उससे विपरीत उसका आचार होना नहीं चाहिये। जब गृहस्थ शेष तीन आश्रमों तथा अतिथिके सत्कारके लिये ही गृह बनाता है, तब उसका गृह ऐसा होना चाहिये जिसमें इन आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुविधा मिल सके, वे वहाँ निःसंकोच रह सकें। आज एक सात्त्विक व्यक्ति भी नगरोंमें रहनेसे ऊबता है; बड़े-बड़े विशाल भवन आज ऐसे नहीं कि उनमें कोई तपस्वी रहकर प्रसन्न हो। प्राचीन निवास सात्त्विकताको प्रश्रय देनेवाले थे, उसे उद्विग्न करनेवाले नहीं।

सत्ययुगमें तो निवासका प्रश्न ही नहीं था। उस समय ग्राम और नगर नहीं थे। जो जहाँ चाहता वह वहीं—वृक्षोंके तले या गुफाओंमें तपस्या और ध्यान करता। पृथ्वी वनपूर्ण थी और वनोंमें मनुष्यकी क्षुधाको शान्त करनेके लिये पर्याप्त फल, मूल तथा कन्द थे। सबसे पहला अकाल महाराज पृथुके समयमें पड़ा। महाराज पृथुने पृथ्वीके विषम भागोंको सम कराया, खेतीकी प्रथा प्रचलित की और नगर तथा ग्राम बसाये। खेतीके विषयमें मनु महाराजके वचन हैं—

> कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
> भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥
> (मनु० १०। ८४)

'खेती अच्छी है, ऐसा लोग मानते हैं; परंतु सज्जनलोग इस वृत्तिकी निन्दा करते हैं। क्योंकि लोहे लगे काष्ठके द्वारा कृषिकर्म भूमि और भूमिमें रहनेवाले जीवोंको मारता है।'

> 'हिंसाप्रायां पराधीनः कृषिं यत्नेन वर्जयेत्।'
> (मनु० १०। ८३)

'हिंसासे युक्त पराधीन (मजदूर, वर्षादिपर निर्भर) कृषिकर्मको यत्नपूर्वक छोड़ दे।' यह आज्ञा ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये है और कहा गया है कि वे आपत्तिकालमें वैश्यके दूसरे कर्म तो कर लें, पर कृषि न करें।

महाराज पृथुद्वारा प्रचलित होनेपर भी कृषिकर्म हिंदू-समाजमें बहुत कालतक निन्दित ही माना गया। ब्राह्मणोंने द्वापरके अन्ततक नगर और ग्रामोंमें रहना स्वीकार नहीं किया। वे वनोंमें रहते थे। उनके आश्रम थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, सांदीपनि, कण्व प्रभृतिके तपोवनोंका महाभारत तथा पुराणोंमें वर्णन है। ये सब ऋषि गृहस्थ थे। गृहस्थ होनेपर भी उन्हें नगर और ग्रामकी आवश्यकता नहीं थी। ब्राह्मण भारतमें सदा ज्ञानमूर्ति और तपस्वी रहे। वे सदा वनोंमें निवास, ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण करते रहे। गृहस्थोंके बालक उन्हीं तपोवनोंमें अपना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत करते थे। निरन्तर निर्बाध गुरुसेवा करके वहीं वे विद्याध्ययन करते थे।

चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लोगोंको—चाहे वे वनमें एकाकी रहें या नगर या ग्राममें—जलाशयकी आवश्यकता थी। स्नान-संध्या-तर्पण करना प्रत्येक द्विजातिके लिये अनिवार्य था। अतएव सरिताओंके किनारे ही आवास स्थिर होते थे। बहुत विस्तृत सरोवर भी आवासके लिये मध्यम स्थल मान लिये जाते थे। किसी हिंदूशास्त्रीय ग्रन्थमें शौचालय तथा भंगी या भंगीके कर्मका वर्णन नहीं है। यह बात स्पष्ट करती है कि मनुष्य मनुष्यसे इतना घृणित कार्य कराये, यह हिंदू-समाजको अभीष्ट नहीं था और हमारी समाजरचनामें उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। ग्राम हों या नगर, वे

इस प्रकार नहीं बसाये जाते थे कि जलाशयसे उनका विस्तार दूर हो जाय और नित्यकर्मके लिये मनुष्योंको घरोंमें व्यवस्था करनी पड़े।

मनुस्मृतिमें स्पष्ट आज्ञा है कि ग्रामके चारों ओर एक सौ धनुषतक वन होना चाहिये और नगरोंके चारों ओर तीन सौ धनुषतक। नगरोंमें एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेके मध्यमें भी उपवनोंकी व्यवस्था थी।

सत्ययुगके अन्तमें जब नगर और ग्राम बनाये गये, तब भी मनुष्य अरण्यसंस्कृतिका प्रेमी बना रहा। यों तो हमारे समाजके संचालक सदा वनोंमें ही रहे। उन तपोधन विप्रोंकी सेवामें रहकर प्रत्येक बालक जीवनका पाठ अरण्यमें ही पढ़ता था। परंतु आरम्भमें जो नगर और ग्राम बने, वे बहुत सादे बने— लकड़ीकी दीवारें तथा फूसके छप्पर। दो, चार, छः, आठ तथा दस छप्परवाली शालाओंका वर्णन प्राचीनतम वर्णनोंमें है। मनुने आज्ञा दी है कि राजाको चाहिये कि असुरोंके पत्थरोंसे बने नगर तोड़ दे। इसका यह अर्थ तो नहीं है कि पत्थरके भवन बनानेका ज्ञान ही लोगोंको नहीं था। अग्निमें पकी ईंटों (इष्टकाओं) से यज्ञकुण्ड अनादिकालसे बनते रहे हैं। पाषाणी और आयसी (लोहेके बने भवनोंकी) पुरियोंका वर्णन भी है। विमान भी बनते ही थे। किंतु यह सब बाह्य भोग अभीष्ट नहीं था। सीधे-सादे छप्परोंके भवन ही आदर्श माने जाते थे।

त्रेताके प्रारम्भमें ही बड़े-बड़े विशाल भवनोंका वर्णन प्राप्त होता है। भारतमें स्फटिक-रत्नादि बहुमूल्य अवश्य माने गये; किंतु उनकी बहुमूल्यता ऐसी नहीं रही जो आज समझी जाती है। भवनोंमें स्फटिक, मणि, स्वर्ण—सबका उपयोग होता था—बहुलतासे होता था। भवन खूब ऊँचे होते थे और उनका आकार ऊपर कंगूरोंसे युक्त होता था। कंगूरोंपर स्वर्णकलश और पताकाएँ शोभित होती थीं। गृहद्वारके दोनों ओर केलेके वृक्ष लगाये जाते थे, यह मङ्गलसूचक चिह्न था। द्वारको तोरणसे नित्य सजाया जाता था।

वर्तमान सभ्यताके झंझावातसे जो प्राचीन भवन अब भी बचे हैं, उनमें हिंदुओंके दो चिह्न मिल जायँगे। भवनके बीचमें प्राङ्गण और उसके मध्यमें तुलसीचबूतरेपर तुलसीका वीरुध्, भवनमें एक मन्दिरकी भाँति बना पूजागृह। प्राचीन कालसे यह पूजागृह चला आता है। द्वापरके अन्ततक द्विजाति यज्ञोपवीत-संस्कारसे लेकर संन्यासी होनेतक अपने प्राजापत्य अग्निकी रक्षा करता था। उसमें वह नित्य हवन करता था। प्रत्येक व्यक्तिके पास हवन-कुण्ड होता था। वह यदि गृहसे कहीं जाता और हवन-कालतक लौटना न होता तो अपना हवनकुण्ड साथ ले जाता। सम्मान्य-व्यक्तिके आनेपर अपनी अग्निको लेकर खड़े होकर उसका आदर किया जाता था। इस अग्निकी बहुत सावधानीके साथ रक्षा की जाती। उसका बुझना अत्यन्त अपशकुन समझा जाता।

नगरोंके चारों ओर खाईं बनाना तो पुरानी परिपाटी है ही, खाईंसे भीतर परिखा होती थी। मार्गोंके निकासपर द्वार बनते थे। भवनोंका निर्माण भी नगरों-जैसा होता था— विशेषतः राजभवनोंका। मुख्य द्वार सिंहद्वार कहलाता और भीतर घेरेदार अनेक प्रकोष्ठ होते। एकसे दूसरे द्वारको पार करके तब मध्यमें मुख्य स्थानतक पहुँचा जा सकता था।

प्रत्येक भवन सूक्ष्म कला-कृतियोंसे सजाया जाता था। भित्तियोंमें मूर्तियाँ बनती थीं और चित्र भी। गृहद्वारके समीप नित्य प्रातः रंग-बिरंगे अन्नचूर्ण, हल्दी आदिसे 'चौक' बनाये जाते। महाराष्ट्रमें यह प्रथा अबतक है। हिंदुओंके समाजमें उल्लास, ऐश्वर्य—ये दोनों भरे थे; परंतु थे वे सात्त्विकतासे नियन्त्रित। नगरोंमें पक्के राजमार्ग थे और वे बराबर सींचे (धोये) जाते थे। वह भी साधारण जलसे नहीं—सुगन्धित जलसे। स्थान-स्थानपर उपवन एवं क्रीडोद्यान तथा क्रीडा-पर्वत होते थे। कृत्रिम झरने उन पर्वतोंसे झरा करते। घरोंमें निरन्तर सुगन्धित धूप जला करती। वातायनोंसे यह धूम्र निकला करता। रात्रिमें राजपथ पूर्णतः प्रकाशित किया जाता और दिनमें पूरे मार्गपर वस्त्रोंसे छाया की जाती। स्नान, संध्यादि जलाशयके तटपर किये जाते, जहाँ पक्के घाट बने होते थे।

वेष-भूषा

हिंदू-समाजमें ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थके लिये बाल बनवाना मना है। मूँजकी मेखला, जटा, यज्ञोपवीत, वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म—ये दोनोंके वस्त्र हैं। ब्रह्मचारी हाथमें पलाश-दण्ड रखते हैं। ताड़के पत्रोंका छत्ता और खड़ाऊँ—ये वस्तुएँ ब्रह्मचारीको वानप्रस्थसे पृथक् करती हैं। संन्यासी या तो मुण्डित रहें या जटा धारण करें, ऐसा निर्देश है। संन्यासी वल्कल-वस्त्र, मञ्जिष्ठमें रँगे या गैरिक वस्त्र धारण करें। सलिङ्ग संन्यासी दण्ड धारण करता है। अलिङ्ग संन्यासी (अवधूत) के लिये कोई वेश निश्चित नहीं है।

गृहस्थोंमें मस्तकपर पूरे बाल रखने या शिखा रखकर शेषको मुड़वा देनेकी प्रथा थी। आजकी भाँति पुरुष कभी

आड़े-टेढ़े केश नहीं कटवाते थे और स्त्रियोंके केश कटवानेकी तो बात ही अमङ्गल मानी जाती थी। अधिकांश ब्राह्मण जटा रखते थे और राजकुल भी बाल कटवाता नहीं था। ब्राह्मण वल्कल धारण करते और उत्तरीयके स्थानपर वल्कल या मृगचर्म काममें लेते थे। अन्य गृहस्थ भी प्रायः उत्तरीय ही शरीरपर डालते थे। धोती और उत्तरीय तथा मस्तकपर मुकुट, पगड़ी या साफा—यही हिंदूवेश है। सिले हुए कञ्चुक (कुर्ता) नाटकमें पहिननेके कारण उसके एक पात्रका नाम ही कञ्चुकी पड़ गया था। जैसे आजकल पहरेदारों और गृह-सेवकोंका एक विशेष वस्त्र होता है, वैसे ही कञ्चुक सेवकोंका वस्त्र था और वह सीकर बनाया जाता था। युद्धमें स्वर्णमय या लौह कवच धारण किये जाते थे; किंतु महाभारतके वर्णनोंसे जान पड़ता है कि ये कवच भी इस प्रकारके नहीं बनते थे, जिन्हें कुर्ते या कोटकी भाँति पहिन लिया जाय। आचार्य द्रोणने दुर्योधनका कवच एक दिन विशेष रीतिसे उसके शरीरपर बाँध दिया। बाँधनेकी इस शैलीने कवचको अभेद्य बना दिया। यह वर्णन बतलाता है कि संन्यासियों और वैष्णव साधुओंमें जैसे 'गाँती' (उत्तरीय) बाँधनेकी अनेक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही कवच भी बाँधने योग्य होते थे और भिन्न-भिन्न रीतियोंसे बाँधे जाते थे। सिले वस्त्र पहिने अवश्य जाते होंगे; क्योंकि यज्ञादि पवित्र कर्मोंके समय बिना सिला वस्त्र पहिननेका आदेश है। स्त्रियाँ साड़ी पहिनती थीं, कञ्चुकी बाँधती थीं। यह भी बिना सिला वस्त्र ही होता था और ऊपरसे उत्तरीय डाल लेती थीं। स्त्रियोंकी वेष-भूषा अब भी बहुत-से ग्रामोंमें ऐसी ही है। केवल कञ्चुकी सीनेकी प्रथा चल पड़ी है। स्त्री और पुरुष दोनों रंगीन वस्त्र धारण करते थे। शय्याके वस्त्र श्वेत होते थे। अधिकांश रेशमी वस्त्र उपयोगमें आते थे, परंतु ऊनी और सूती वस्त्रोंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है।

आभूषण-धारणकी खूब प्रथा थी और स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। स्मरण रखना चाहिये कि आभूषणादि शृङ्गार केवल गृहस्थ ही धारण कर सकते थे; उनमें भी ब्राह्मण शृङ्गार-त्यागी थे। पूरे समाजका एक बहुत छोटा भाग ही साज-शृङ्गारकी प्रवृत्ति रखनेको स्वतन्त्र था। फलतः सामग्रीके लिये संघर्षका प्रश्न ही नहीं था। मुकुट, कुण्डल, हार, कण्ठाभरण, अङ्गद, कङ्कण, अङ्गुलीय (अँगूठी), किङ्किणी, चरणाभरण और नासिकाभरण—इनमेंसे केवल नासिकाभरण ही पुरुष उपयोग नहीं करते थे और बालक कभी-कभी करते भी थे। इसके अतिरिक्त शेष सभी आभूषण पुरुष भी धारण करते थे। स्त्रियों और पुरुषोंके आभूषणोंमें आकृति आदिके अन्तरका वर्णन सूक्ष्म विवेचनसे ज्ञात हो जाता है। रत्नों तथा स्वर्णका मनुष्यके ऊपर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और स्वर्ण स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद है, यह आजके वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। स्वर्ण और रत्नके आभूषण गृहस्थ धारण करें और उनके लाभसे लाभान्वित होना चाहें, यह स्वाभाविक है। आज दुर्बल और विकृताङ्ग मनुष्य अपना शरीर वस्त्रसे छिपाये रखना चाहता है। शक्ति एवं दरिद्रताने उसे सभ्यताका यह रूप दिया कि आभरण-धारण असभ्यता है; फिर भी सुविधा पानेपर वह उनका लोभ छोड़ नहीं पाता। स्वस्थ-सबल शरीर आभरणोंसे भूषित कितना भव्य लगता होगा, यह कल्पनासे परे नहीं है।

वस्त्र और आभूषणोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके अङ्गराग, सुगन्धित तैल और पुष्प-शृङ्गार उस समय अत्यन्त प्रिय थे। शरीरपर अङ्गरागसे बेलें निकालना, पुष्पाभरण बनाना, केश-विन्यास करना—ये सब कलाएँ थीं उस समयकी। षोडश शृङ्गार और चौसठ कलाओंका विवरण अत्यन्त प्राचीन है। उनसे हिंदू-समाजके वैभव तथा उसकी कलात्मक रुचिका अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

राम-भरोसा

धन-पति, पद-पति, बुद्धि-पति, जग-पतिसों लिय भीख।
इन मंगन सों माँगु नहिं, प्रभु सों माँगन सीख॥
मँगिबो परत न राम सों, जानत जन-हिय-पीर।
जाति दौरि शिशु के निकट, जननि पियावत क्षीर॥

—श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस'

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक—श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल एम्० ए०)

प्रत्येक मन्तव्य या सिद्धान्तमें जिस वस्तुको प्राधान्य दिया जाता है, उसके अनुसार ही उसका नाम पड़ता है। इसी प्रकार पूँजीकी मुख्यता होनेके कारण इसका नाम पूँजीवाद चल पड़ा है। फ्रांसकी १७८९ की क्रान्तिमें ईश्वर और धर्मको उड़ा देनेकी रणभेरी बजी, इससे अर्थ और कामका जोर बढ़ा। अर्थका सही अर्थ यह है कि जिससे संसार चले, और इसकी आवश्यकता पूरी हो। आवश्यकताओंके दो मुख्य भेद हैं—व्यक्तिकी और समाजकी। व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं—खान-पान आदि। समाजकी आवश्यकता है—राज्य। धर्मके संयम, मनोनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह आदिके आदर्शोंको शिथिल करनेके साथ ही मौज-शौकका प्राधान्य आ गया और उसमें 'छूट'—स्वच्छन्दताके सिद्धान्तसे दुराचारकी दुर्वासना भी प्रविष्ट हो गयी। मौज-शौकके लिये धन चाहिये, इसलिये धनका प्राधान्य आया। धनका 'उत्पादन' करनेमें श्रम चाहिये, इसलिये श्रमका—मेहनतका—क्रियाका प्राधान्य आया। जैसे नेपोलियनके नेतृत्वके अधीन फ्रांस राज्यसत्ताकी गेंद-उछालका केन्द्र बन गया, वैसे ही वह यूरोपमें मौज-शौकके अड्डोंका, नाइट-क्लबोंका, फराक और पेटीकोटके फैशनका केन्द्र हो गया। इसके प्रभावसे सारे यूरोपमें मौज-शौक और धनके लिये उन्माद या आतुरता फैल गयी। धनको बढ़ाने, धनको खूब इकट्ठा करने और धनको ऊँचा उठानेके आदर्श, प्रयत्न और कानून बनने लगे। धन या पैसा जो पहलेके धर्मराज्योंमें हाथका मैल समझा जाता था, उसे शुक्रकी महादशा आ गयी। धन या लक्ष्मी स्वयं तो कोई बुरी वस्तु नहीं है; उसके लालचमें पड़कर द्वेष, दुराचार और दुर्वासनामें फँसना बुरा है। यह तो विष्णुकी महामाया है; इसलिये बड़े-बड़े बुद्धिमान् इस काम-पन्थमें भटक गये। इसकी फिलॉसफी निकली और नये अर्थशास्त्र बने। इसको सम्मति और पोषण देनेवाली लोकशाहीकी राज्य-रचनाका आविर्भाव हुआ। फ्यूडलिज्म—अमीर और सरदार जो मोटे कपड़े पहनकर हजारों आदमियोंका निर्वाह करते थे, राजा और सरदार जो संग्राममें आगे बढ़कर पहले अपना बलिदान देनेके लिये तैयार होते थे, धार्मिक सत्ताके अधिकारी, जो लोगोंको संयम और दान-धर्मका उपदेश देकर अपने ठिकानेपर रखते थे, उन सबपर आ बनी। सरदारों और अमीरोंको उड़ा देनेमें होशियारी मानी जाने लगी। बड़ी-बड़ी तनख्वाहवाली सेनाओंका बारहों महीनेका करोड़ोंका खर्च और इस कारण स्वभावतः अनायास संग्राम और लड़ाइयाँ बढ़ने लगीं और रविवारके पुण्यके बदले पुतलीघरोंमें पैसे उड़ने लगे और देव-मन्दिरोंकी संख्या कम होने लगी। बर्क-जैसे दूरदर्शी विद्वान् सहसा चिल्ला उठे और इंगलैंड-जैसे देश क्रान्तिकी नागफाँससे बच गये। वहाँ तथा अमेरिकामें धर्मका थोड़ा-बहुत जोर होनेके कारण दुराचारमें कुछ रुकावट आयी। परंतु धनेच्छा और लोलुपता वहाँ भी बढ़ी और पूँजीवाद प्रविष्ट हो गया। इसके पीछे लोगोंकी दरिद्रताकी अपेक्षा धनलिप्सा ही अधिक बलवान् थी। किस प्रकार दूसरोंसे धन लेना, खींचना या रोक रखना—यह उसका मुख्य प्रेरक बल हो गया। इसके लिये बड़े-बड़े कारखाने, नये-नये आविष्कार, विज्ञानके विश्वविद्यालय बढ़ने लगे। इसके साथ इसके अङ्गस्वरूप मजदूरोंका पूर्ण जोरदार, संख्याबद्ध वर्ग बनने लगा, पूँजीपति बढ़ने लगे और वर्ग-संघर्षके भी नारे लगाये जाने लगे। बर्कने कह दिया था कि अब सिरको हथेलीमें लेकर प्रजाकी तथा महिलाओंकी रक्षा करनेके लिये कूद पड़नेका युग चला गया और उसकी जगहपर तर्कवादी, अर्थवादी और पैसे-पैसेका हिसाब करनेवालोंका युग आ गया है और देशकी यशस्विता सदाके लिये विदा हो गयी है। परंतु यूरोपका वातावरण इस कूद-फाँदसे इतना अधिक बिगड़ चला था कि कार्लाइल-जैसे महान् विचारक भी अंशतः भूलमें फँस गये और इस क्रान्तिकी निन्दा करते हुए भी 'परिश्रम' और क्रिया (लेबर)का राग अलापने लगे। सच बात तो यह थी कि दुनियाँमें जितना खाने-पीनेके लिये चाहिये, उतना तो होता है मनुष्यकी असली जरूरतें तो बहुत थोड़ी होती हैं। परंतु नयी विचारधारा तो यह कहती थी कि हमें तो मौज-शौक चाहिये, मौज-शौकके लिये धन चाहिये और धनके लिये श्रम चाहिये। इस प्रकार मजदूरी आकर पूँजीवादके पल्ले बँध गयी। यह सब जोर देकर कौन कराये—पूँजीपति या मजदूर? और दोनोंके ऊपर हुकूमत कौन चलाता है?—राज्य; दूसरा कौन? इससे राज्यकी हाकिमी आयी। राज्यकी हाकिमी कौन करे? यह समुदाय हुकूमत

भोगे या वह दल भोगे ! संत भोगें या ये षड्यन्त्रवाले भोगें ? संतोंको यह कहकर उड़ा दिया कि संसारको समझते नहीं। राजाओंको यह कहकर किनारे किया कि तुम तो संयम और सदाचारके लिये सबको दबाते हो, इसलिये तुमसे हमारा काम नहीं चलेगा। अब बच गये लोकशाहीवाले क्रान्तिकारी। उनमें भी फिर अनेक पक्ष हो गये—जिनमें दो स्पष्ट बहुमतवाले और अल्पमतवाले हैं। दोनों ही अपनी बात-को सोलहों आने ठीक मानते हैं। कौन किसके लिये सहे या अपने विचारको हटाकर या दूसरेकी विचारधाराको मानकर समाधान करे ? और क्यों समय नष्ट करे ? जिन साधनोंसे सफलता नहीं मिल सकती, ऐसी प्रार्थनाओंको अथवा लोगों-का बहुमत प्राप्त करनेके निरर्थक प्रयत्नको क्यों अपनाये रहें ? यह परिस्थिति उत्पन्न होने और सहज ही समझ-में आनेके कारण त्रासवाद आया, बमबाजी शुरू हुई और अणु-बम तथा हाइड्रोजन-बम भी धर्मके विदा होनेके कारण और धर्मक्षेत्रके चौकमें रीजन (तर्कवाद) का पुतला खड़ा करनेके फलस्वरूप बिना माँगे, बिना बुलाये, अनेक बार आड़े हाथ करनेपर भी ये आ पहुँचे। धर्मविहीन राज्यकी नास्तिक फिलॉसफी राज्यमें, शिक्षामें, आदर्शमें और भाषामें भी आ पहुँची। 'सब समान'का असत्य सिद्धान्त पुनरावर्त्तन-से फैशनमें आ गया और सब कुछ किनारे रखकर 'अब तो भाई दुनियाकी रोटी पूरी करो'—इसकी योजना करनेका शोर मचने लगा और इसका सीधा उपाय—जिनके पास पैसे हों, उनसे ले-लेकर जरूरत पूरी करो—यह सूझा। इस रोटीकी दुनियामें एकाएक चमत्कार हो गया और मेहनत-के बावजूद रोटियोंका अकाल एकाएक कहाँसे आ गया, इसका उत्तर खोजनेकी खटपटमें कौन पड़े ? ऐसी आजकी मानस-भूमि बन गयी। इसके लिये खूब उत्पादन करो, खूब उत्पादन करो—यह आवाज चारों ओर फैल गयी। उत्पादन-में सफलता नहीं हुई; हजारों मन काफी फेंक देनी पड़ी, पाट आदि बहुतेरी चीजोंके उत्पादनकी कीमत इतनी भी न हुई कि उससे लगत वसूल हो सके। अनाज सस्ता न होने पाये, इसके लिये बनावटी रुकावटें पैदा की गयीं। घी-दूध, अनाज आदिमें मिलावट और बनावट बढ़ गयी। दूसरी ओर कपड़ेकी तथा दूसरी मिलोंमें करोड़ों रुपयोंका माल भरा रहने लगा। यह महँगा माल कौन ले ? मालकी महँगाईके साथ रुपयेकी तंगी भी बढ़ती गयी। तीसरी ओर दुर्घटनाओं, दगेबाजियों और युद्धोंके परिणामस्वरूप करोड़ों रुपयोंके जहाज, वायुयान और इमारतोंका नाश होने लगा। जर्मनीने तो अपना सारा काफला ही बिजलीके बटन दबाकर उड़ा दिया। इस प्रकार दूसरी ओर देखो तो महँगाई और मौज-शौककी तथा मशीनों-की वृद्धि और धंधे-रोजगारकी स्वतन्त्रताके लिये परेशान होनेका परिणाम यह हुआ कि मजदूरीकी तैयारी होनेपर भी बेकारी बढ़ती गयी। इसलिये बेकारीकी पुकार भी इस नयी अव्यवस्थामें बढ़ गयी। सारांश यह कि जैसे शतरंजकी बाजी-में गलत या भूलभरी चाल चलनेसे खेलाड़ी फँस जाता है, अथवा सोचे हुएसे उलटा ही परिणाम आ जाता है, वही हालत इस नये प्रयोगके खेलाड़ियोंकी भी हुई। प्रकृतिकी और प्रकृतिके ईशकी सत्य, अहिंसा, संयम इत्यादि किसी भी विधि-निषेधके विरुद्ध स्वतन्त्रता खोजते-खोजते खाने-पीनेतककी परतन्त्रता आ पड़ी। पूज्यकी पूजामें व्यतिक्रम करके और संत तथा शैतानको समान समझनेवाले मार्गसे दुनियामें उलटे ऐटम बमवाली और दुष्ट हथियारोंकी विश्व-व्यापी लड़ाई सिर आ पड़ी। अर्थ और धनके पीछे आँखें मूँदकर दौड़ती प्रजामें अधिक बेकारी और ऋणभार बढ़ गया। लोकशाहीकी राज्य-पद्धतिसे, दुनियाका उद्धार कर डालनेकी प्रवृत्तिसे उन-उन राज्योंमें ही स्वतः अव्यवस्था, भेद, अन्तर्युद्ध, बमका उपयोग, आग लगानेकी तरकीबें तथा पारस्परिक द्वेष और बड़े-बड़े अपराध बढ़ गये। ये सारी बातें इतनी स्पष्ट और प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं कि कोई भी देखनेवाला इन्हें देख सकता है। अवश्य ही इस पंथमें अबतक लोग इतना आगे बढ़ गये हैं कि अब पीछे हटना बहुत कठिन है। तमससे प्रकाशमें जाना भी तो एक महाक्रान्ति ही है।

इस प्रकार १७८९ से इसकी पश्चाद्-भूमिका और वर्तमान भूमिकाका दिग्दर्शन करानेके बाद हम पूँजीवादके दोष और विपरिणामको भी देख लें।

(अपूर्ण)

ईश्वरने यह तन दिया करनेको दो काम।
तन-धनसे सेवा करैं, मनसे सुमिरैं राम॥

सात्त्विक वृत्ति

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी)

"रामायणको मैं जीवनकी पुस्तक मानता हूँ और मेरा ऐसा विश्वास है कि जबतक हम उसको इस भाँति समझनेका प्रयत्न नहीं करेंगे, 'राम-राज्य'की स्थापना हमारे शरीर, मन तथा बुद्धिमें नहीं हो सकती। हजारों वर्षोंसे रामायणका पाठ घर-घरमें हो रहा है परंतु रामायणकी जो गारंटी—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

—है, वह रामायणका पाठ करनेवालोंके जीवनमें चरितार्थ होती नहीं पायी जाती। उनके शरीर रोगसे ग्रसित हैं, मन विकारयुक्त हैं तथा बुद्धि अज्ञानसे परिपूर्ण है। इसका क्या कारण है ? क्या रामायण गलत है ? नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि इसके आधारपर साधनाद्वारा बहुत-से व्यक्ति अपना जीवन सफल बना चुके हैं। तो फिर हमारी असफलताका क्या कारण है ? मेरे विचारसे हमलोग रामायणको एक धर्मकी पुस्तक-मात्र मानते हैं और उसका हमारे दैनिक जीवनसे भी कोई सम्बन्ध है—यह विचार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

"पार्वतीने तप किया, मनु-शतरूपाने तप किया, भरत तथा अयोध्यावासियोंने साधना की। क्या ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ मात्र हैं अथवा एक पौराणिक ग्रन्थकी उन गाथाओंमेंसे हैं, जिनका क्रियात्मक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या हम भी उसी परिपाटीपर चलकर वही प्राप्त नहीं कर सकते, जो उन्होंने किया ?

"देश, काल तथा पात्रके अनुसार इस साधनाके रूपमें परिवर्तन हो सकता है; परंतु मूल सिद्धान्त वे ही रहेंगे। यदि ऐसे कुछ साधक तैयार हों, जो रामायण इस भाँति समझने और उसका क्रियात्मक उपयोग करनेको प्रस्तुत हों या कर रहे हों, तो बड़ा लाभ हो सकता है। मेरा यह निवेदन है कि लोग सत्सङ्गकी समाप्तिके बाद रुक जायँ और हमलोग आपसमें बैठकर अपने अनुभव तथा कठिनाइयोंको बतायें तथा नवीन सुझाव स्वतःप्राप्त विवेकके प्रकाशमें रक्खें, जिनसे लाभ उठाकर हम एक-दूसरेकी सहायता कर सकें और अपनी साधनामें अग्रसर हो सकें।" इतना कहकर योगीजी शान्त मुद्रासे बैठ गये।

कुछ लोग उठकर चले गये, लगभग पचीस व्यक्ति बैठे रहे। योगीजीने कहा—'मेरा ऐसा अनुमान था कि पाँच-छः व्यक्ति ही रुकेंगे; परंतु बात मेरी आशाके विपरीत हुई।'

दो-तीन सज्जन एक साथ बोल उठे कि 'साहब ! हमलोग तो आपके मुखसे और अधिक सुननेके लिये ही बैठे हैं। कुछ करने-धरनेवालोंमें नहीं हैं।'

योगीजी हँसने लगे—उपस्थित लोगोंकी मनोवृत्ति-पर ! वहाँपर पुलिसके एक बहुत ऊँचे अफसर भी बैठे हुए थे, जो योगीजीके अनुयायी थे तथा उनके सिद्धान्तोंपर चलकर पर्याप्त लाभ उठा चुके थे। उनके मुखपर पुलिसके अधिकारियोंकी-सी निरङ्कुशता न थी, अपितु धार्मिक पुरुषोंका-सा माधुर्य तथा कोमलता थी। वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर भगवान्का स्मरण करते थे। भोजनमें अन्नका परित्याग लगभग एक वर्षसे किये हुए थे और दिनमें केवल एक बार कंद-मूल-फल तथा शाकका आहार करते थे। योगीजीके सत्सङ्गमें आनेवाले सभी व्यक्ति उन्हें श्रद्धा तथा आदरकी दृष्टिसे देखते थे। उन्होंने कहा—"वैसे तो मेरा कोई विशेष अनुभव नहीं है, किंतु आज प्रातःकालकी एक घटना उल्लेखनीय है—

"मेरे घरके बाहरी कमरेमें एक लड़का रहता है, जो विश्वविद्यालयमें एल्-एल्० बी० में पढ़ता है। धनाभावके कारण वह अपनी शिक्षा आगे बढ़ानेमें असमर्थ था, वह

मेरे पास आया और उसने अपनी कठिनाइयाँ मेरे सामने रक्खीं । मैं उसकी अपने साथ रखनेपर राजी हो गया और उसको रहनेके लिये अपने घरका बाहरी कमरा दे दिया । घरपर ही उसके भोजनकी भी व्यवस्था कर दी ।

"आज प्रातः लगभग पाँच बजे जब वह दाढ़ी बना रहा था, तब उसने पानीका लोटा खिड़कीमें रख दिया । एक आदमी उस लोटेको उठानेकी नीयतसे खिड़कीके पास आया, पर अंदर एक व्यक्तिको देखकर लौट गया । उस कमरेके बाहर दरवाजेके पास एक टूटा हुआ उगालदान पड़ा था । वह उसको उठाकर नौ-दो ग्यारह हुआ । उस लड़केने देखा कि कोई व्यक्ति खिड़कीके पास आया और उसको देखकर दरवाजेकी ओर गया और वहाँसे कुछ उठाकर चला गया । वह कमरेके बाहर निकल आया, ठीक उसी समय मैं भी घरसे बाहर निकला । मुझे देखते ही उसने प्रणाम किया और उस घटनासे सूचित किया । मैंने तुरंत अपने अर्दलीको उस आदमीको पकड़ लानेका आदेश दिया ।

"लग-भग आधे घंटेमें वह व्यक्ति पकड़कर मेरे पास लाया गया । उस अर्दलीने पकड़ते समय ही उसकी काफी मरम्मत कर दी थी । तो भी कोठीपर आते ही और लोगोंने उसकी पूजा शुरू कर दी । मेरे अंदर भी कुछ तामस वृत्तिका प्रादुर्भाव हुआ और मैंने चौकीसे दो कान्स्टेबलोंको बुलाकर उनकी सुपुर्दगीमें उस व्यक्तिको दे दिया ।

"किसी क्रूर तथा अनिष्टकारक कर्म करनेके बाद हमें ग्लानि होती है और शीघ्र ही कोमल भावनाओंका जन्म होता है और तब उस व्यक्तिसे, जिसके साथ हमने अन्याय किया है, सहृदयताका बर्ताव करनेकी इच्छा होती है ।

"जब कान्स्टेबल उसे ले जाने लगे, तब मैंने बहुत नरमीसे कहा—

'तुम कौन हो और तुमने चोरी क्यों की ?'

'मैं उड़ीसाका एक गरीब ब्राह्मण हूँ । बाढ़से घर-बार तथा खेती नष्ट हो जानेपर मैं भागकर गोरखपुर आया और वहाँ रेलवेमें मजदूरी करने लगा । दुर्भाग्यसे छटनीमें वहाँसे भी निकाल दिया गया और अब कई दिनोंसे यहाँपर हूँ ।' उसकी तलाशी लेनेपर कुछ ऐसे प्रमाण मिले, जिससे उसकी बातोंकी पुष्टि हुई । उसको देखनेसे मालूम होता था कि कई दिनोंका भूखा है ।

"मुझे उसपर बहुत दया आयी और मैंने कान्स्टेबलोंको उसे छोड़कर चौकी लौट जानेका आदेश दिया और उस व्यक्तिको भोजनकी सामग्री देकर विदा किया ।

"मेरे जीवनमें यह पहला अवसर था कि एक व्यक्तिको चोरी करते हुए पकड़े जानेपर भी मैंने छोड़ दिया और तो भी मुझे कोई मलाल नहीं हुआ, अपितु एक दैवी आनन्दकी अनुभूति हुई । मैंने ऐसा अनुभव किया कि यह इस सात्त्विक वृत्तिका प्रभाव था, जिसका प्रादुर्भाव मेरे जीवनमें संयम एवं नियमके द्वारा हुआ है, जो मेरी साधनाके विशेष अङ्ग हैं ।"

'तब निश्चित तेरा कल्याण'

हत्यारा आएगा सम्मुख, लेनेको तेरे प्रियप्राण ।
कहना होगा उसे भावसे, 'हो भाई ! तेरा कल्याण !'
काक, कबूतर, चींटी तकके, ऊपर भी न फेंक पाषाण ।
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्याण ॥

शत-शत फूल चढ़ा उस जनपर, जो फेंके तुझपर पाषाण ।
अपने प्राण गँवा करके भी, बचा किसी प्राणीके प्राण ॥
दीन, दुखी, पापी, पतितोंका, कर स्वागतपूर्वक शुभ त्राण ।
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्याण ॥

—'बन्धु', ब्रह्मानन्द

श्रीगीताजयन्ती और गीताकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह प्रश्न होता है कि श्रीगीताजयन्ती मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही क्यों मनायी जाती है ? इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीताका उपदेश दिया था, इसका क्या प्रमाण है ? इसके लिये हमें महाभारतके युद्धारम्भ एवं पितामह भीष्मके परलोकगमनके कालपर दृष्टिपात करना आवश्यक है—महाभारत, भीष्मपर्वके अध्याय २, श्लोक २३-२४ में लिखा है कि कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर श्रीवेदव्यासजीने धृतराष्ट्रसे कहा कि निकट भविष्यमें बड़ा भयंकर युद्ध होनेवाला है; क्योंकि चन्द्रमाका रूप अग्निके समान लाल, कान्तिहीन और अलक्ष्य दिखायी पड़ता है। महाभारत, अनुशासनपर्वके १६७ वें अध्यायके २७वें-२८वें श्लोकोंमें वर्णन आता है कि भीष्मजीने माघ शुक्ला अष्टमीके दिन अपने शरीरका परित्याग किया था। श्रीभीष्मजी बहुत दिनोंतक शरशय्यापर पड़े रहे। इस हिसावसे माघ शुक्लपक्ष या पौष शुक्लपक्षमें तो गीताजयन्ती हो नहीं सकती, प्रत्युत मार्गशीर्षमें ही हो सकती है।

यदि शुक्लपक्ष न मानकर कृष्णपक्ष ही गीताजयन्तीका काल मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि महाभारत, द्रोणपर्वमें वर्णन है कि चौदहवें दिनकी रात्रिमें जो संग्राम हुआ था, उस समय घोर अन्धकार था, प्रज्वलित दीपकों (मशालों) के प्रकाशमें ही वह युद्ध हुआ था (देखिये अ० १६३); वहाँ अँधेरेमें अपने-परायेका ज्ञान न रहनेसे लोग अपने पक्षके वीरोंका भी संहार करने लगे। तब अर्जुनने युद्ध बंद करके विश्राम करनेकी आज्ञा दे दी (देखिये अ० १८४)। इस प्रकारकी अन्धकारमयी रात्रि कृष्णपक्षमें ही रहती है। इस हिसावसे गीताके प्राकट्यका समय कृष्णपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि गीता युद्धारम्भके पहले ही कही गयी थी और उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिके युद्धके समयमेंसे तेरह दिन घटानेपर शुक्लपक्ष ही सिद्ध होता है।

यदि कहें 'कि एकादशीके दिन ही गीता कही गयी, इसका क्या प्रमाण है?' तो इसका उत्तर यह है कि उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिमें आधी रातके पश्चात् चन्द्रमाके उदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ था। वहाँका चन्द्रमाका वर्णन कृष्णपक्षकी नवमीके जैसा है; क्योंकि अर्धरात्रिके बाद चन्द्रोदय अष्टमीके पूर्व हो नहीं सकता। अतः उस युद्धकी रात्रिको पौष कृष्णपक्षकी नवमी मानें तो उससे तेरह दिन घटानेपर मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

यदि यह मानें कि प्राचीन कालकी गणनामें शुक्लपक्ष पहले गिना जाता था, कृष्णपक्ष बादमें—इस न्यायसे मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीकी रात्रिमें युद्ध हुआ तो इसमें कोई विरोध नहीं है। उस कालसे भी १३ दिन घटानेपर तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

इसके सिवा एकादशीका दिन पर्वकाल है और मार्गशीर्षका महीना सबसे उत्तम माना गया है, जिसके लिये स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्—(११ । ३५)।' इन सब प्रमाणोंके आधारपर ही अनेक पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही युद्ध आरम्भ हुआ था और उसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतोपदेश दिया था।*

---

* 'गीता-धर्म-मण्डल' पूनाने तथा प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकरंदीकर महोदयने बहुत-से प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि गीताका उपदेश मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही हुआ था। प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० इन्द्रनारायणजी द्विवेदीका भी यही मत है। प्रख्यात ऐतिहासिक स्व० श्रीचिन्तामणिराव वैद्यने मार्गशीर्ष शु० १३ को गीताकी जन्मतिथि बतलाया है—'सम्पादक'

संसारमें अध्यात्मविषयक ग्रन्थ गीताके समान और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते। गीताप्रेस, गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषाटीका मिलाकर १३०० से अधिक गीताओंका संग्रह है।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर मालूम होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(भीष्मपर्व ४३।१)

'गीताका ही अच्छी प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
(भीष्मपर्व ४३।२)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकलतीर्थमयी है और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।'

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥
(भीष्मपर्व ४३।५)

'महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।'

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं, उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका फल तो अधिक-से-अधिक स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है। यों गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता। किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है। अतएव सभी माता-बहिनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य करना ही चाहिये।

सत्कथा

(१)

राम-जपके सम्बन्धमें स्वयंकी अनुभूतियाँ

(लेखक—आचार्य श्रीभगवानदासजी झा, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)

जीवनके शैशव-कालसे ही मेरे अबोध मनपर मेरे पिताजीकी भक्ति एवं उनके द्वारा निर्देशित राम-नाम-जपकी महत्ताके संस्कार आजतक बनते चले आ रहे हैं। मैं पाँच वर्षका था। मेरे पिताजी चाहते थे कि मैं पढ़ने बैठ जाऊँ। पर मेरा मन पढ़नेसे उसी प्रकार कोसों दूर भागता था, जिस प्रकार किसी संसार-विषयासक्तका भगवन्नामसे। पिताजी बड़े चिन्तित रहते थे। सोचते थे कि इसके भाग्यमें विद्या है ही नहीं। अन्तमें उन्होंने प्रतिदिन इसीके निमित्त 'ओम्'का जप किया। हरि-इच्छासे मेरा मन पढ़नेके लिये व्याकुल होने लगा और बार-बार उचटनेकी स्थितिके बाद भी मैं प्रत्येक कक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होता रहा। जब मैं सन् १९३८ में मिडिल-परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ, तब मुझे ऐसा भासित होने लगा कि जिस राम-नामने मुझे इतनी विद्या दी, वह इससे आगे भी देगा। अस्तु, घरका त्याग करके मैं हाई-स्कूलकी परीक्षा उत्तीर्ण करने दुतिया आ गया। जीवन-क्रम बढ़ता गया और इसी क्रममें ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनसे मेरे मनमें राम-नाम-जपकी महिमाका प्रभाव तीव्रतर होता गया। अधिक न कहकर मैं उन घटनाओंको लिपिबद्ध करता हूँ, जो यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त हैं कि ओम् या राम-नाम-जपसे सब विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

घटना-क्रमाङ्क १

बात सन् १९४३ की है। घटना झाँसी, उत्तरप्रदेशकी है। मैं उस समय इंटरमीजियट, प्रथम वर्षका विद्यार्थी था। राजकीय इंटरमीजियट कालेज, झाँसीके छात्रावासमें वास करता था। कमरा क्रमाङ्क १० था। प्रथम वर्षकी वार्षिक परीक्षा निकट आ रही थी। सभी विद्यार्थी रात्रिके चार बजेसे विद्याध्ययनमें लग जाते थे। छात्रावासमें विद्युत्-प्रकाशकी व्यवस्था नहीं थी। अतएव लालटेन जलाकर कार्य किया जाता था। एक रात्रिकी घटना है। मैं प्रातः चार बजे उठा। कमरेसे बाहर निकलकर लघु-शङ्काका समाधान किया। तत्पश्चात् कमरेकी देहरीपर खड़ा हो गया। आदतके अनुकूल महात्मा सूरदासका पद—

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो······

—गुनगुनाने लगा। एक पदकी समाप्तिके बाद दूसरा पद—

मैया मैं तो चंद-खिलौना लैहों······

—अधिक उच्च स्वरसे गाने लगा। अन्धकारकी रात्रि थी। इसलिये यह कुछ पता नहीं कि मेरी स्वरलहरीको कोई सुननेवाला भी था या नहीं। दस मिनट बाद लालटेन जलानेके लिये कमरेके भीतर गया। शौचके लिये लोटा उठाया, लालटेन हाथमें ली, ताला उठाया और चला देहरीकी ओर। लालटेन पृथ्वीपर रखने लगा कि अचानक भयके मारे लालटेन हाथसे छूट गयी और दूसरे हाथका लोटा बाहर दूर जा पड़ा। देखा—जहाँ खड़ा मैं दस मिनटतक गाता रहा, वहाँ मेरे पैरोंसे एक सेंटीमीटरकी दूरीपर ही एक विषधर मेरी स्वर-लहरीको सुन रहा था। किंतु उसने काटनेकी तो कौन कहे ऊपर उठे हुए फनका मेरे पैरसे भी स्पर्श नहीं किया। चिल्लाया। साथी जाग पड़े और सर्पका वध कर दिया गया। मैं सोचने लगा—यह हरि-नामका ही प्रभाव है कि जो सूरके पदके रूपमें मेरी रक्षाका निमित्त बना। सर्प पाँच-छः फुट लंबा और महान् विषैला था। इसमें किसीको संदेह नहीं था कि यदि वह मुझे डस लेता तो छात्रावाससे लगभग तीन मीलकी दूरीपर स्थित औषधालयतक रात्रिके चार बजे पहुँचनेके पूर्व ही मेरी ऐहिक जीवनलीला समाप्त हो जाती। पर भगवान् जो साथ थे।

घटना-क्रमाङ्क २

बात सन् १९४८ की है। इलाहाबाद नगरसे सम्बन्धित घटना है। मैं गवर्नमेंट ट्रेनिंगकालेजमें एल्०टी० का विद्यार्थी था। वार्षिक परीक्षाके दिन निकट थे। कालेजमें प्रथम श्रेणीकी प्राप्तिके लिये भयंकर होड़ें लग रही थीं। मैं तिमाही और छःमाही परीक्षामें प्रथम उत्तीर्ण हुआ था। अतएव अन्य सभी विद्यार्थियोंका यही प्रयत्न था कि मैं अबकी प्रथम श्रेणी

न प्राप्त कर सकूँ। आठ-दस विद्यार्थी मेरी प्रतियोगिताके क्षेत्रमें कूद पड़े। वे रातों-दिन एक करने लगे। इधर रातके बारह बजेतक पढ़ते और उधर प्रातः चार बजे उठ बैठते। पर मेरी स्थिति भिन्न थी। रातको जगनेकी आदत नहीं थी। नौ बजे सो जाता और प्रातः सात बजे उठता। यह क्रम कई दिनोंतक चलता रहा। सबने समझ लिया कि अब यह विद्यार्थी क्या बराबरी करेगा। पढ़ता तो है नहीं। सोता रहता है। बात सोलह आने सच थी। पर मैं सोनेके पूर्व लगभग पंद्रह मिनटतक संस्कारवश 'ओम्'का जप अवश्य कर लेता और उठनेके साथ ही तुलसीकृत रामायणका यह दोहा गुनगुनाने लगता—

> भव भेषज रघुनाथ जस सुनहिं जे नर अरु नारि।
> तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

परीक्षा हुई और समाप्त हो गयी। जूनमें परीक्षा-फल घोषित हुआ। मैं सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों परीक्षाओंमें प्रथम-प्रथम उत्तीर्ण हुआ। ओम्के जपने मेरी मनःकामना पूर्ण की। संसार इसका रहस्य कदाचित् न समझ सका हो।

घटना-क्रमाङ्क ३

बात सन् १९५२ की है। स्थान जावरा, मध्यभारत था। मैं साइकिलसे स्टेशन लकड़ीकी गाड़ी लेने गया था। साइकिल बहुत पुरानी थी। लकड़ी लेकर चल दिया। मार्गमें मैं संत तुलसीदासका पद—

> गाइए गनपति जग बंदन। संकर सुवन भवानी नंदन॥

—गाता हुआ द्रुततम गतिसे बढ़ने लगा। किसीको यह पतातक नहीं कि मेरी साइकिलके आगेके पहियेका चिमटा टूट चुका है; पर मैं बढ़ता ही आया। ठीक घरके द्वारपर आनेपर जैसे ही मैं साइकिलसे नीचे उतरा, पहिया साइकिलसे पृथक् हो गया। मैं बाल-बाल बच गया। मैं सोचने लगा—यदि यही बात जोरोंसे साइकिल चलाते समय घटती तो ग्वालियर-की एक घटनाकी भाँति मैं वक्षःस्थलके बल भूपर गिरता और सदैवके लिये आँखें बंद हो जातीं। पर गणपतिकी वन्दनाके पढ़ने मेरे जीवनकी रक्षा की। तभी तो श्रीगणपति-जी सकल-विघ्न-विनाशक माने जाते हैं।

घटना-क्रमाङ्क ४

बात सन् १९५५ की है। स्थान नरसिंहगढ़, मध्यभारत था। मैं नगरसे तीन मीलकी दूरीपर स्थित एक एकान्त बँगलेमें निवास करता हूँ। अचानक दिनाङ्क चार अप्रैल, ५५ को मेरी सबसे छोटी कन्याकी आँखें चढ़ने लगीं। सायंकालके छः बजेका समय होगा। मैं तब बैडमिंटन खेल रहा था। मेरी धर्मपत्नी चिल्ला पड़ीं। नौकर घरके भीतरसे दौड़ा हुआ आया। कहने लगा—'बेबीकी तबीयत बिगड़ रही है।' खेल-का मैदान बँगलेके पास ही था। मैं खेल छोड़कर अंदर गया। देखा—छः मासकी बच्ची आँखें चढ़ा गयी है और अन्तिम साँस ले रही है। मैंने सोच लिया कि अब इसके प्राणोंकी रक्षा नहीं की जा सकती। मैं रोने लगा। स्वस्थ बच्चीके हाथोंसे चला जाना कितने दुःखकी बात थी। बच्चीको केवल सायंकाल चार बजे हल्का-सा बुखार आ गया था। दाँत निकलनेकी थोड़ी-सी शिकायत थी। उपचार आदिकी कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। पर जब बच्चीकी दशा बिगड़ने लगी, तब मेरे साथी खिलाड़ियोंने बच्चीको गोदीमें ले लिया और मैं साइकिलसे डाक्टरके पासके लिये दौड़ा। मार्गमें एक कार मिल गयी। मैंने विनय करके कार माँगी और उसे पीछे लाकर बच्चीको उसमें बिठाकर औषधालय लाया। डाक्टरसाहबने केवल यही कहा कि मलेरियाकी शिकायत है; मैं एक इंजेक्शन लगाये देता हूँ और कुछ दवा खानेको दिये देता हूँ। तबतक बच्ची, जो अभीतक मूर्छित थी, चेतनतामें आ गयी थी। सोचा—अब संकट टला। बच्चीको लेकर घर लौट आया। धर्मपत्नीको दूध पिलानेके लिये बच्ची दी। एक क्षणमें ही बच्ची उसी स्थिति-में पुनः आ गयी। हम दोनों घबरा गये। पर तबतक कार चली गयी थी। अब क्या किया जाय। साथी भी चले गये थे। दो नौकर पास थे। मैं बच्चीको लेकर आँगनके बाहर आया और खुले मैदानमें उच्च स्वरसे 'ओम्'का जप करने लगा। जप आधे घंटेतक चला। इस अवधिमें बच्ची जीवन और मृत्युके संधि-स्थलपर थी। मैं धैर्य बाँधे और हिचकी लेती हुई कन्याको गोदमें लिये जोरसे जप कर रहा था। मैंने धर्मपत्नीसे भी जप करनेको कहा; पर वे इतनी व्याकुल थीं कि अनेक प्रयत्न करनेपर भी थोड़ी देरतक ही कर सकीं। बच्चीने होश सँभाला। वह रोने लगी। मूर्च्छा चली गयी। मैंने तुरंत गायत्री-मन्त्रका जप आरम्भ कर दिया। बच्चीने आँखें खोल दीं। सबको धैर्य बँध गया। फिर क्या था। सभी 'ओम्'का जप और साथ-साथ गायत्री-मन्त्रका जप करने लगे। मैंने जप आठ बजेसे बारह बजे राततक चलाया। प्रातःकालतक बच्ची पूर्ण स्वस्थ थी। बच्चीकी दशासे यह स्पष्ट ज्ञात होता था कि वह मृत्युके मुख-

से अभी हालमें ही वापस आयी है।

मेरे जीवनमें ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हुई हैं, जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूतिके बलपर मैं यह कहनेमें समर्थ हूँ कि राम-नामके जप और 'ओम्'के जपसे सभी विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त की जा सकती है और मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति की जा सकती है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे यह विश्वासकी बात है और यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त है कि जब हम आर्तरूपमें हरिकी शरणमें सच्ची आस्था लेकर जाते हैं, तब दीनदयाल, भक्तवत्सल, आनन्दकन्द भगवान् हमारी रक्षा अवश्य करते हैं। भगवान् दम्भके विरोधी हैं पर सच्चे स्नेहके भूखे हैं।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(२०)

कौन कहता है भगवान् आते नहीं ?

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रस्वरूपजी श्रीवास्तव बी० ए०)

आजसे दस-बारह वर्ष पूर्वकी बात है। ठीक-ठीक समय तो याद नहीं; परंतु इतना अवश्य याद आ रहा है कि जन्माष्टमीसे एक-दो मास पूर्वकी यह घटना है।

मैं जजीमें एक कर्मचारी हूँ और उस समय अपरेन्टिस था। एक दूसरे कर्मचारीके त्यागपत्रपर मेरी नियुक्ति जजीके मोहाफिजखानेमें हुई थी और मेरा वेतन अठारह रुपयेसे कदाचित् पचीस रुपये हो गया था। मेरे साथ चार अन्य कर्मचारी काम करते थे और प्रत्येकके अधिकारमें एक-एक न्यायालयकी निर्णीत मिसलें रहा करती थीं।

एक दिन एक प्रार्थनापत्र आया, जिसके द्वारा एक निर्णयकी प्रतिलिपि माँगी गयी थी। प्रार्थनापत्र मेरे पास भेजा गया; क्योंकि वह मेरे विभागसे सम्बन्धित था। मैंने मिसल देखी, परंतु वह मेरे पास न निकली। इधर-उधर ढूँढ़ा, न मिली। अपने साथियोंसे पूछ-ताछ की, परंतु कहीं पता न चला। ऐसा लगा मानो पैरोंतलेसे जमीन निकल गयी। मिसल पुरानी थी, अतः रद्दीमें भी देखी गयी; परंतु मिसल न मिलनी थी, सो न मिली। बात गुप-चुप भी रक्खी जाती तो कितने दिन। होते-होते बात काफी फैल गयी और सबको पता चल गया। प्रार्थीने एक दूसरे पत्रद्वारा जजसाहबसे प्रार्थना की कि अमुक मिसल जजीके मोहाफिजखानेसे गायब है और ऐसा अनुमान होता है कि अमुक कर्मचारीने दूसरी ओरसे कुछ रकम लेकर मिसलको गायब कर दिया है।

अब क्या था—तू चल और मैं चल। कागजी घोड़े दौड़ने लगे। मेरा भी उत्तर लिया गया और आदेश हुआ कि दो सप्ताहके अंदर मिसल ढूँढ़कर पेश की जाय। मिसलका न मिलना या कागजका खो जाना काममें लापरवाही ही नहीं, वरं एक गम्भीर अपराध भी है।

मिसल ढूँढ़ी, सारे दफ्तरमें ढूँढ़ी। परंतु पता न लगना था सो न लगा। जज साहबसे एक सप्ताहका अवकाश और माँगा गया और वह भी मिल गया। उस सप्ताहमें केवल चार दिवस ही काम करना था; क्योंकि रविवार और जन्माष्टमीको मिलाकर तीन दिनकी छुट्टी पड़ती थी। इन चार दिनोंमें अब जमीन और आसमानके कुलाबे मिला देना था। खोज हुई, सामर्थ्यसे अधिक हुई। एक-एक करते चारों दिन बीत गये, परंतु मिसल अन्धकारके परतमें ही रही। एक मिसल हो तो ढूँढ़ी जाय; हजारोंमें एकका मिलना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

मुसीबतमें कोई किसीका साथ नहीं देता—कम-से-कम यह कहावत मेरे साथ झूठी निकली। सबने तन-मनसे मेरा सहयोग दिया था। पर सफलता नहीं हुई।

रोमके जलते समय नीरो बंसरी बजा रहा था। जहाँ मुझे मेरे साथी इतना सहयोग दे रहे थे, वहाँ कुछ लोग मुझपर भाँति-भाँतिके लाञ्छन भी लगा रहे थे। कोई कहता—देखनेमें तो सीधा है, परंतु अंदरसे पूरा घाघ है। कोई कहता, रुपये देखकर किसकी नीयत नहीं डोल जाती''''।

मुझे इन सब बातोंको सुनकर बड़ी पीड़ा होती। मिसल न मिलती तो नौकरीसे निकाल ही नहीं दिया जाता, लाञ्छन-के ये काले धब्बे मेरी जिंदगीको सदैवके लिये बरबाद कर देते।

चार दिन बीत गये। जन्माष्टमीकी छुट्टी पड़ी, परंतु हृदयमें कोई उत्साह न था। भगवान्का जन्म मनाया गया, प्रसाद भी बँटा; परंतु मेरा मन तो और ही कहीं था। मनमें रह-रहकर मैं गिड़गिड़ाता—'भगवन्! मुझे किस अपराधका यह दण्ड मिल रहा है? आप भी क्या नहीं जानते कि मैं निर्दोष हूँ? हे नाथ! कल तो मेरी नौकरी भी चली जायगी, फिर मैं क्या करूँगा? दुनिया क्या कहेगी''''?'

प्रसाद लेकर कुछ सूक्ष्म भोजनके उपरान्त मैं पड़ रहा। न जाने क्या-क्या सोचता रहा और नींद आ गयी। वह एक पावन रात्रि थी। सोचा करता हूँ, क्या ऐसी रात्रि मेरे जीवनमें एक बार फिर आयेगी? देखा कि एक श्यामवर्ण साधु मेरे निकट आया है और मुझसे उठनेको कह रहा है। उसकी छवि अद्भुत थी। मैं उठा, वह मुझे कचहरीकी ओर ले गया और मोहाफिजखानेके अंदर ले जाकर खड़ा कर दिया तथा संकेतसे कहा—'यह बस्ता खोलो।' मैंने वैसा ही किया। बस्ता खोलकर एक-एक करके मिसलें टटोलने लगा। जितनी ही देर मिसलके मिलनेमें हो रही थी, उतनी ही मेरी विकलता बढ़ती जा रही थी; परंतु वह साधु मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। एक-एक करके सारी मिसलें लौट डालीं। अन्तमें मेरे आश्चर्यकी थाह न रही, जब मैंने वह आखिरी मिसल वहीं पायी, जिसकी इतने दिनोंसे खोज हो रही थी। खुशीसे मेरा हृदय द्रवित हो गया और मैं इतने जोरसे हँसा कि मेरी आँख खुल गयी। देखा सूर्यकी किरणें फूट रही थीं। पत्नी मेरी हँसीपर चकित थी और मैं भी कुछ हक्का-बक्का-सा लग रहा था। स्वप्नपर विश्वास हो भी रहा था और नहीं भी। ईश्वर और तर्कमें होड़ थी; परंतु हाँ, मुझे अपने हृदयमें एक अद्भुत शान्तिका अनुभव हो रहा था।

अब चैन किसे थी। सोचता था जल्दीसे दस बजें और मैं कचहरी पहुँचूँ। दस बजे और मैं कचहरी भागा। एक-एक मिनट घंटेसे अधिक प्रतीत हो रहा था। जैसे-तैसे कचहरी पहुँचा और वही बस्ता देखा। मेरे आश्चर्यकी थाह न रही, जब मैंने देखा कि मिसल ठीक उसी स्थानपर रक्खी थी, जहाँ मैंने पिछली रात स्वप्नमें उसे देखा था। मेरी आँखोंमें अश्रु थे—हर्षके, और अब भी मैं हक्का-बक्का था

कामके पत्र

(१)

पुत्रशोकमें धैर्य

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका करुणापूर्ण पत्र मिला। आपके सुशील और आज्ञाकारी पुत्रकी दुर्घटनाके निमित्तसे मृत्यु हो गयी, यह पढ़कर बड़ा दुःख हुआ। सुयोग्य सुपुत्रकी दुर्मृत्युसे माता-पिताको मार्मिक पीड़ा होना स्वाभाविक ही है। आपका यह कष्ट वास्तवमें अवर्णनीय है। मेरी आपके इस दुःखमें हार्दिक सहानुभूति है। श्रीभगवान् आप दोनोंको धैर्य तथा आपके सुपुत्रको सद्गति और शान्ति दें। यही संसारका रूप है। यहाँ संयोग-वियोगका चक्र अनवरत चलता रहता है। जो मिला है, उसका बिछुड़ना अवश्यम्भावी है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा भाँति-भाँतिके दुःख-ताप—यही इस संसारकी देन है। मनुष्यको चाहिये कि वह संसारकी प्रत्येक वस्तुको परमात्माकी धरोहर समझकर उसमें ममता तथा आसक्ति न करे। वह पुत्र जिसकी चीज थी, जिसने सार-सँभालके लिये आपको दी थी, उसीने अपनी चीज ले ली। मालिककी चीज; मालिक अपने इच्छानुसार उसे चाहे जब चाहे जहाँ भिजवा दे। इसी प्रकार यह शरीर, यह जीवन भी उसीने दिया है, उसीकी वस्तु है; इसे भी वह चाहे जब स्थानान्तरित कर सकता है, अपने पास बुला सकता है। धन-पुत्रादि पदार्थ भी उसके और हम-आप सभी उसके सेवक। वे इन दोनोंको चाहे जहाँ भेज सकते हैं, रख सकते हैं। इसमें दुखी होनेका वस्तुतः कोई उचित कारण नहीं है। वे भक्तवत्सल भगवान् ही जीवमात्रके एकमात्र सुहृद् एवं सम्बन्धी हैं। वे ही सबके अपने आत्मीय या सगे हैं। संसारके प्राणिपदार्थोंमें हमारा जो प्रेम है, उसे वहाँसे हटाकर भगवान्‌में ही लगाना चाहिये। भगवान् जबतक इस लोकमें रक्खें, उनका सतत चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये, उनकी सेवा समझकर सब काम करने चाहिये और सदा उनके आज्ञानुसार स्थानान्तरमें जाने या उनके समीप जानेके लिये तैयार रहना चाहिये। हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं, हम मरकर भी उन्हींके पास जायँगे, जीते-जी भी उन्हींके होकर रहेंगे।

आपका पुत्र अपने सद्गुणोंके कारण भगवान्‌का प्रिय

ही रहा है और अब भी भगवान् उसपर प्रेम करते रहेंगे, सहज सुहृदता उनका स्वभाव है। आपको चाहिये उसकी सद्गतिके लिये भगवन्नामजप, विष्णुसहस्रनामका तथा गीताका पाठ करें तथा गयाश्राद्ध करवा दें। सर्वोत्तम तो है उसको अपने मनसे सहर्ष भगवान्के अर्पण करके 'उसको भगवान् अपना पार्षद बना लें'—यह भगवान्से प्रार्थना करें। बार-बार विनय करें।

आपके एक लड़की है, उसीको लड़का समझें। इस लड़कीसे जो लड़का होगा, वह आपके लिये श्राद्धादिका अधिकारी होगा। कन्याके रहते हुए आप यह न समझें कि मेरे कोई पुत्र या संतान नहीं है। पुत्र और कन्यामें क्या भेद है? असलमें तो आप तथा आपका सब कुछ भगवान्के ही हैं। आपको भगवान्के भजनमें मन लगाना चाहिये। जीवनका कोई ठिकाना नहीं। पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय, पर वह चाहे जब आवे, आप उसको भगवच्चिन्तन करते हुए ही मिलिये। आपकी शेष आयुका एक क्षण भी भगवान्की स्मृतिके बिना न जाय, फिर निश्चय ही आपको भगवान्की ही प्राप्ति होगी। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको अर्पण करके तुम निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

शेष भगवत्कृपा।

(२)

बंदरोंपर क्रूरता और गाँधीजी

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। बंदर फसलको नुकसान पहुँचाते हैं—यह सत्य है; परंतु जीवित रहनेका हक जितना मनुष्यको है, उतना ही बंदर तथा दूसरे जानवरोंको भी है। वर्तमान कालमें मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि वह अपने लाभके लिये किसी भी जीवकी हत्या करनेमें जरा भी संकोच नहीं करता। मनुष्य अपनी सुख-सुविधाके लिये नये-नये अनुसंधान करता है और उसमें बेचारे प्राणियोंकी बुरी तरहसे हत्या की जाती है। भारतसे बंदरोंका कितना निर्यात होता है, इस सम्बन्धमें गोहत्या-निरोध-समितिके मन्त्री लाला हरदेवसहायजीने लिखा था कि भारत सरकारकी विदेशी व्यापार-रिपोर्ट मार्च १९५५ के अनुसार १९५२-५३ तक बंदरोंका निर्यात नहीं हुआ। विगत दो वर्षोंमें यह निर्यात शुरू हुआ और बढ़ा है। दो वर्षोंके अङ्क इस प्रकार हैं—

साल	बंदरोंकी निर्यात-संख्या	मूल्य
१९५३-५४	१६२८१	२९७३०३)
१९५४-५५	९११६१	१८१८३४१)

इन अङ्कोंके अनुसार सन् १९५३-५४ की अपेक्षा गत वर्ष पाँचगुना अधिक संख्यामें बंदरोंका निर्यात हुआ। ये सब बंदर नवीन अनुसंधान एवं दवा आदिके लिये प्रायः अमेरिका भेजे गये हैं। इन बेचारे बंदरोंकी बड़ी निर्ममताके साथ हत्या की जाती है। यह मनुष्यका एक बड़ा पाप और कलङ्क है।

आपने लिखा कि 'भारतके शासनमें अहिंसाकी दुहाई दी जाती है तथा अपनेको महात्मा गाँधीका अनुयायी बतलाया जाता है। तो क्या यह हिंसा नहीं है? क्या बंदरोंपर इस प्रकारका अत्याचार करना महात्मा गाँधीजीको स्वीकार था।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि हमारे मतसे यह अवश्य हिंसा है और खोजते-खोजते इस सम्बन्धमें महात्माजीका निम्नलिखित स्पष्ट मत दर्शनमें छपा मिल गया है। वे लिखते हैं—

'विविसेक्शन (Vivisection) अर्थात् जीवित प्राणियोंके अवयवोंको काट-काटकर किया जानेवाला अनुसंधान-प्रयोग, मेरी रायमें, इस समय मनुष्य जो

ईश्वर और उसकी सुन्दर सृष्टिके प्रति भीषण पाप कर रहा है, उनमें एक भीषणतम पाप है। सुख-दुःखकी संज्ञावाले प्राणियोंके प्राणोंको तड़पानेवाली यन्त्रणा यदि हमारे जीवनका मूल्य हो तो ऐसे जीवनसे हमें इन्कार कर देना चाहिये।' *

महात्माजी इससे अधिक और क्या लिखते। वे ऐसे अत्याचारपूर्ण प्रयोगोंके मूल्यपर जीवन-धारणतक करना नहीं चाहते। यह तो मनुष्यका महान् पतन है, जो वह अपने जीवनके मिथ्या मोहमें ईश्वरकी सृष्टिके निर्दोष जीवोंकी हत्या करने और उनपर निर्दय अत्याचार करनेमें नहीं हिचकता। भगवान् सबको सुबुद्धि दें, जिससे यह पाप बंद हो।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

गोपीहृदयमें प्रेम-समुद्र

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। 'कल्याण'में श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्बन्धमें बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। वास्तवमें ये गोपरमणियाँ प्रेम-जगत्की तो परम आदर्श हैं ही। नारी-जगत्में भी इनकी कहीं तुलना नहीं है। विश्व तो क्या भगवत्-राज्यमें भी किसी भी नारीके चरित्रमें नारी-जीवनकी महिमामयी सेवाकी ऐसी आदर्श मनोहर सहज मूर्तिका विकास नहीं हुआ। सावित्री, अरुन्धती, लोपामुद्रा, उमा, रमा—किसीकी उपमा श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ नहीं दी जा सकती। आत्मसुख-लालसाकी गन्धसे रहित होकर केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये ही जीवन धारण करना, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष सब कुछ भूलकर प्रियतमकी रुचिके अनुसार अपने जीवनकी क्षण-क्षणकी समस्त क्रियाओंका सहज सम्पादन करना ही गोपी-प्रेम है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनमें किसी भी वासना-कामनाका अलग अस्तित्व नहीं है, पर वे परम प्रेमास्पद भगवान् श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेम-सुखका आस्वादन करने-करानेके लिये अपने भगवत्स्वरूप मनमें नित्य नयी-नयी विचित्र वासनाओंका उदय करते हैं और भगवान्की उन प्रतिक्षण उदय होनेवाली नित्य नवीन वासनाओंके अनुकूल अपनेको निर्माण करके भगवान्को सुख पहुँचाना केवल श्रीगोपाङ्गनाओंके ही शक्ति-सामर्थ्यसे सम्भव है, बस, प्रियतमकी रुचिको—चाहको पूर्ण करना ही जिनके जीवनका स्वरूप है, जिनकी प्रत्येक स्फुरणामें, प्रत्येक संकल्पमें, प्रत्येक चेष्टामें, प्रत्येक शब्दमें और प्रत्येक क्रियामें केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमजनित वासना-पूर्तिका ही सहज सफल प्रयास है। उन श्रीगोपाङ्गनाओंकी तुलना कहीं, किसीसे भी नहीं हो सकती।

श्रीगोपाङ्गनाओंमें मधुर भावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस मधुर भावसे ही मधुर रसका प्राकट्य होता है। एक महात्माने बताया है कि यह मधुर रस तीन प्रकारका होता है। तीनों ही अत्यन्त मूल्यवान् हैं, पर एककी अपेक्षा दूसरा अधिक उत्कृष्ट और मूल्यवान् है। जैसे साधारण मणि, चिन्तामणि और कौस्तुभ मणि। साधारण मणिका जैसा साधारण मूल्य होता है, वैसे ही श्रीकृष्णके प्रति कुब्जाकी प्रीतिका मूल्य साधारण है। श्रीकृष्ण-सम्पर्कसे महाभागा होनेपर भी उसमें श्रीकृष्णकी सेवा करके केवल अपने ही सुखका संधान था। इसीसे उसे 'दुर्भगा' कहा गया। चिन्तामणि जहाँ-तहाँ सहजमें नहीं मिलती। उसका मूल्य भी बहुत अधिक है। सब लोग उतना मूल्य दे ही नहीं सकते; ऐसे ही श्रीकृष्णकी पटरानियोंकी दिव्य प्रीति है। श्रीकृष्णका भी सुख और अपना भी सुख—उनमें इस प्रकारका उभय सुखी भाव बना रहता है, इसलिये उनकी इस रतिका नाम समञ्जसा है। श्रीगोपाङ्गनाका प्रेम

* 'Vivisection, in my opinion, is the blackest of all black crimes that man is at present committing against God and his fair creation. We should be able to refuse to live, if the price of living be the torture of sentient beings'.
—Mahatma Gandhi

साक्षात् कौस्तुभ मणिके सदृश है। चिन्तामणि तो दस-बीस भी मिल सकती है, पर कौस्तुभ मणि तो एक ही है और वह केवल श्रीभगवान्‌के कण्ठकी ही भूषण है, वह दूसरी जगह कहीं भी नहीं मिलती। इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाकी प्रीति भी श्रीकृष्णकी मधुर लीलास्थली व्रजके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। ऐसा प्रेम श्रीगोपाङ्गना ही जानती है, कर सकती है। और यह प्रेम, इस प्रेमके एकमात्र पात्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर गोपीवल्लभ श्रीकृष्णके प्रति ही हो सकता है। इस दिव्य प्रेम-सुधारसका अनन्त अगाध समुद्र नित्य-नित्य लहराता रहता है—गोपीहृदयमें। इसीसे वह अनुपमेय, अतुलनीय और अप्रमेय है।

शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान्‌की नासमझी नहीं, उनकी उदारता और करुणा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार है—

(१) अजामिल जातिके ब्राह्मण थे। सदाचारी थे। परंतु एक शूद्रजातीय कुलटा स्त्रीमें आसक्त होकर उसीके साथ रहने लगे। उन्होंने अपने छोटे पुत्रका नाम नारायण रक्खा था। मृत्युके समय यमदूतोंके भयसे उन्होंने अपने पुत्रको ही 'नारायण' 'नारायण' कहकर पुकारा था। परंतु किसी भी निमित्तसे यदि भगवान्‌का नाम जीवनके अन्तिम श्वासमें मुखसे निकल जाय तो भगवान् उसका निश्चय कल्याण करते हैं। नामके इस सहज गुणका और अपने विरदका निबाह करनेके लिये भगवान्‌ने 'नारायण' नामका उच्चारण होते ही अपने दूत उनके पास भेज दिये और उन्होंने यमदूतोंके हाथसे अजामिलको बचा लिया। इसको भगवान्‌की नासमझी बतलाना अपनी 'नासमझी'का परिचय देना है। इसमें तो आपको वस्तुतः भगवान्‌के स्वभावकी सहज उदारता और अकारण करुणाके दर्शन होने चाहिये।

(२) गीताका पाठ तथा उत्तम ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेवाला भी यदि क्रोध न छोड़ सके, तो यह उसकी दुर्बलता ही है। क्रोध-त्यागका उपाय है—निज दोष-दर्शन और सर्वत्र भगवद्दर्शन। प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जीव श्रीभगवान्‌का स्वरूप है, ऐसा समझने-देखनेसे विरोधभाव शान्त हो जाता है।

(३) श्रीहनुमान्‌जीने जब मशक-समान रूप धारण किया, तब अँगूठी कहाँ रही? वास्तवमें श्रीहनुमान्‌जीका महत्त्व न जाननेसे ही मनमें इस प्रकारकी कुशङ्का उत्पन्न होती है। जो श्रीहनुमान्‌जी अपने पर्वताकार शरीरको मच्छरके समान अत्यन्त छोटा बना सकते हैं, वे उस अँगूठीको भी इतनी छोटी बना सकते हैं कि मच्छर होनेपर भी लिये रह सकें। इतनी साधारण-सी बात तो समझमें आ ही जानी चाहिये।

(४) स्त्री-जातिको 'अबला' उनका तिरस्कार करनेके लिये नहीं कहा गया है। वह प्रेममयी पत्नी है और स्नेहमयी माँ है। अपने पति-पुत्रोंके सामने कभी बलका प्रदर्शन नहीं करती। निरन्तर उनकी मङ्गलकामना करती हुई प्रेममयी और स्नेहमयी बनी रहती है। विश्व-विध्वंसकारी क्रोधमें भरे अमित बलवीर्य-सम्पन्न भगवान् नृसिंह शिशु प्रह्लादके सामने आते ही सारे बलको भूलकर तथा क्रोधरहित होकर उसे गोदमें ले लिये और चाटने लगे। रणरङ्गिणी दुष्टदलनकारिणी भगवती दुर्गा अपने स्वामी शङ्करके सामने सदा विनम्र रहकर अबला-सी बनी रहती हैं। इसमें बलका अभाव नहीं है, बल्कि प्रदर्शनका अभाव है।

शेष भगवत्कृपा

(५)

सद्गुरुका महत्त्व

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला। आपका लिखना सर्वथा सत्य हैं। अज्ञानान्धकारसे हटाकर भगवत्स्वरूपके पुण्यप्रकाशमें पहुँचा देनेवाले गुरुका महत्त्व भगवान्‌से भी अधिक माना जाता है। पता नहीं, सद्गुरुकी कृपासे कितने प्राणी दुराचारका त्याग करके नरकानलसे बच गये हैं और बच रहे हैं। गुरु भगवत्स्वरूप ही हैं। ऐसे सद्गुरु बड़े ही पुण्यबल और भगवान्‌की कृपासे प्राप्त होते हैं। सद्गुरुके चरणोंमें बार-बार नमस्कार।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

'गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महान् ईश्वर महादेव हैं, गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं, उन गुरुके चरणोंमें नमस्कार। ज्ञानाञ्जनकी सलाईसे अज्ञानतमसे अंधेकी आँखोंको खोल देनेवाले गुरुके चरणोंमें नमस्कार।' गुरुकी महिमा अवर्णनीय है। जगत्‌के समस्त विकारोंका नाश करनेके लिये ऐसे सद्गुरु ही संजीवन-सुधा हैं। घोर पाप-तापके प्रचण्ड प्रवाहमें बहते हुए प्राणीकी रक्षाके लिये स्वयं गुरुदेव ही सुदृढ़ जहाज और वे ही उसके कर्णधार हैं। इसलिये गुरुका विरोध करना साधारण पाप ही नहीं, सीधा नरकको निमन्त्रण है। पर वस्तुतः यह महिमा शिष्यके अज्ञान एवं पाप-तापादिका हरण करनेवाले सद्गुरुकी ही है, कामिनी-काञ्चनके लोभी बाजारी गुरुओंकी नहीं। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

गुरु सिष बधिर अंध कर लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

आजकल चारों ओर गुरुओंकी भरमार है, कौन सद्गुरु हैं, कौन नकली हैं—इसका पता लगना सहज नहीं है। इस स्थितिमें किसी अंधेके हाथमें लकड़ी पकड़ा देनेवाले अंधेकी जो दुर्दशा होती है, वही इन गुरु-शिष्योंकी होती है। अतएव वर्तमान समयमें गुरुकरण बहुत ही जोखिमकी चीज है। भगवान् सहज जगद्गुरु हैं, उन्हींका आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

आज जिस प्रकारका दम्भ-छल-कपट चल रहा है, चारों ओर जो अधःपतनकी धूम मची है, इसमें किसीको गुरु स्वीकार करके उसे अपना सर्वस्व मानना, उसकी एक-एक बातको ईश्वर-वाक्य मानकर स्वीकार करना और उसे तन-मन-धन सौंप देना बुद्धिमानीका काम नहीं है। इसमें बहुत अधिक धोखेकी सम्भावना है। खास करके, स्त्रियोंको तो इससे अवश्य ही बचना चाहिये।

राम ज्यौं राखै त्यौं रहिये।
जो प्रभु करै भलो कर मानो, मुख तें बुरो न कहिये।
हरि होनी अनहोनी कर दे, सो सब सिर पर सहिये॥
करै कृपा हरि नाम जपावै, सो अंतर लै गहिये।
'मेहरदास' हरि-हुकुम मानिये, यह सेवक कौं चहिये॥

—भक्त मेहरदासजी

माघमासमें भगवान्‌की विशेष सपर्या

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इस दुस्तर अगाध भयानक भवसागरमें भगवान्‌के चरण ही एकमात्र दृढ़ पोत हैं। जहाँ उनकी विस्मृति हुई फिर तो इस भारी भवसागरका पारावार कुछ भी नहीं सूझता। अतः जिस किसी भी उपायसे हो सके, मन-मिलिन्दको प्रभुके चरणोंमें ही बनाये रखना चाहिये। थोड़ी सी व्याकुलता तथा तन्मयतासे उनका स्मरण किये जानेपर इस दुस्तर भवसागरका संतरण सुकर हो जाता है, यह गोवत्सपदवत् हो जाता है और इसकी विभीषिका तुरंत समाप्त हो जाती है।

यों तो भगवान्‌की आराधना सदा, सर्वत्र, सर्वाभीष्टप्रद कही जाती है—

सर्वान् कामानवाप्नोति समाराध्य जगद्‌गुरुम्।
तन्मयत्वेन गोविन्दमित्येतद् दाल्भ्य नान्यथा॥
(विष्णुधर्म०)

हरेराराधनं पुंसां किं किं न कुरुते बत।
पुत्रमित्रकलत्रादि राज्यं स्वर्गापवर्गदम्॥
(स्कन्द० काशी० २१। ५३)

आराध्य विधिवद् देवं हरिं सर्वसुखप्रदम्।
प्राप्नोति पुरुषः सम्यक् यद् यत् प्रार्थयते फलम्॥
(गरुड० पूर्व० २२६। ४९)

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् मधुसूदनम्।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः॥
(महा० शां० ३४८, ७१)

यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः॥
(गरुड० २२२। १२)

तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि।
(श्रीमद्भा० ८। १२। ४७)

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तां विना सर्वमाप्नोति यदि नारायणाश्रयः॥
(लिङ्गपुराण)

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० १। २। १२; गरुड० पूर्व० ५१। १९; आनं० रा० मनो० कां० ९। ६८; पद्मपु० स्वर्ग० ५७। ४२)

यद्भ्रूवर्तनवर्तिन्यो सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः॥
(स्कन्द० काशी० १९। ११५)

नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं विधाय यः।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला॥
(काशीखण्ड)

सम्यगाराधितो विष्णुः किं न यच्छति देहिनाम्।
(आनन्दरामा०)

भागवतकारके शब्दोंमें तो अपने शरीर, पुत्रादिकोंके लिये किया गया सारा कर्मजाल व्यर्थ ही हो जाता है; किंतु वे ही मन, वचन, प्राण, शरीर आदिसे किये गये कर्म यदि भगवान्‌के लिये किये जायँ तो सर्वथा सत्–सफल हो जाते हैं—जैसे वृक्षके मूलका सेचन।

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥
(८। ९। २९)

जिस प्रकार वृक्षके मूल निषेचन (जड़ पटाने) से उसकी शाखा, टहनी, स्कन्ध, पत्र, पुष्प, फल सब निषेचित— तृप्त हो जाते हैं अथवा मुखमें भोजन करनेसे सारी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं, उसी प्रकार अच्युतकी अर्हणा—इज्या–पूजासे सारे संसारके जीवोंकी, सारे विश्वकी, पूजा हो जाती है।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(४। ३१। १४)

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥
(८। ५। ४९)

एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाय।
रहिमन मूल ही सींचिये फूलै फलै अघाय॥

पद्मपुराणमें भगवान् शङ्करका वचन है कि जगदीश्वर भगवान् विष्णुके पूजित होनेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा हो जाती है।

नृसिंहपुराणका कहना है कि पुरुषसूक्तमन्त्रसे भगवान्‌पर कोई एक फूल अथवा जल ही क्यों न डाल दे, उसने त्रिलोकीकी पूजा कर ली[1]।

पद्मपुराणमें कालभेदसे पूजाभेदका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्करने कहा है कि देवदेवेश्वर श्रीविष्णुके पूजित हो जानेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा सम्पन्न हो जाती है। भगवान् केशवका चैत्र मासमें प्रयत्नपूर्वक चम्पा और चमेलीसे पूजन

---

१. दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा।
अर्चितं स्याज्जगत्सर्वं तेन वै सचराचरम्॥
(नृसिंहपुराण ६३। ९)

करना चाहिये। चैत्रमें कमलपुष्प, कोई लाल रंगका पुष्प, दौना, कटसरैया और वरुणवृक्षके पुष्पोंसे भी पूजा करनी चाहिये। वैशाख मासमें केतकी (केवड़ा) के पत्तेसे महाप्रभु श्रीविष्णुका पूजन करना चाहिये। जिन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान्‌का पूजन कर लिया उनके ऊपर श्रीहरि संतुष्ट रहते हैं। ज्येष्ठ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। आषाढ़ मासमें कनेरके फूल, लाल फूल अथवा कमलपुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। कदम्ब-पुष्पसे पूजित होनेपर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। घनागमके समय जो घनश्याम-को कदम्बपुष्पोंसे पूजित करता है, भगवान् प्रलयपर्यन्त (एक-एक कर १४ इन्द्रोंके पर्यवसानतक) उसकी कामनाओंको पूरी करते रहते हैं। भगवान्‌को जितनी पद्मालया लक्ष्मीको प्राप्तकर प्रसन्नता होती है, उतनी ही कदम्बपुष्पको पाकर प्रसन्नता होती है। तुलसी, श्यामा तुलसी तथा अशोकके द्वारा तो भगवान्‌की नित्य पूजा करनी चाहिये। जो लोग श्रावण मास आनेपर अलसीका फूल लेकर अथवा दूर्वादलसे भगवान् जनार्दनकी पूजा करते हैं, उन्हें भगवान् प्रलयकालतक मनोवाञ्छित भोग प्रदान करते हैं। भादोंके महीनेमें चम्पा, श्वेत पुष्प, रक्तसिन्दूरक तथा कह्लारके पुष्पोंसे पूजन करके मनुष्य सभी कामनाओंको प्राप्त करता है। आश्विन मासमें जूही, चमेली तथा नाना प्रकारके शुभ पुष्पोंद्वारा प्रभुकी पूजा करनी चाहिये। कमलपुष्पसे आश्विनमें भगवान्‌की पूजा करनेवालोंको चारों पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। कार्तिक मासमें भी यथासुलभ सभी पुष्प भगवान्‌को अर्पण करने चाहिये। तिल और तिलके फूल भी चढ़ाना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य अक्षय फलका भागी होता है। जो कार्तिकमें छितवन, मौलसिरी और चम्पाके फूलोंसे श्रीजनार्दनकी पूजा करते हैं वे मनुष्य नहीं देवता हैं। मार्गशीर्षमें नाना प्रकारके पुष्पों, नैवेद्यों, धूपों तथा आरती आदिके द्वारा भगवान्‌की पूजा करे। पौष मासमें नाना प्रकारके तुलसीदल तथा कस्तूरीमिश्रित जलके द्वारा पूजन करना कल्याणदायक माना गया है। माघ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्‌की पूजा करे। उस समय कपूरसे तथा विविध उपचारों एवं नैवेद्योंसे भी भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये। फाल्गुनमें नवीन पुष्पों अथवा सभी प्राप्त पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये।

(पद्म० उत्तरखण्ड ८९ । १-२७)

तथापि भगवान् विष्णुके पूजनमें इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि शिरीष, धतूर, मदार, कनकचम्पा, सेमर तथा मोतियाके फूलों एवं अक्षत उनपर कभी न चढ़ाना चाहिये। (इसी प्रकार भगवान् शङ्करपर पलाश, कुन्द, शिरीष, जूही, मालती और केतकी कभी न चढ़ाना चाहिये। गणेशजीको तुलसी नहीं चढ़ती, दुर्गाकी पूजामें दूबका उपयोग नहीं होता। सूर्यकी पूजा अगस्त्यके फूलोंसे नहीं की जाती। भगवान् विष्णुपर पलाशका फूल भी नहीं चढ़ाते[1]।)

माघमें विशेष

परदेश, कालके योगसे सत्क्रियाओंका प्रभाव बढ़ जाता है। माघ मासके सम्बन्धमें कहा गया है कि स्नान-ध्यान तथा भगवान्‌की आराधनाके लिये यह सर्वोत्तम महीना है। जैसे मन्त्रोंमें ओंकार है, छन्दोंमें गायत्री है, पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, वैष्णवोंमें भगवान् शङ्कर श्रेष्ठ हैं, ऋतुओंमें वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है वैसे ही महीनोंमें यह माघ मास उत्तम है। नदियोंमें जैसे गङ्गा उत्तम हैं, देवताओंमें भगवान् श्रीहरि श्रेष्ठ हैं, वृक्षोंमें पीपल श्रेष्ठ है, पशुओंमें गौ श्रेष्ठ है, वैसे ही मासोंमें यह माघ मास है। अन्य मासोंसे कार्तिक हजारगुना फल देनेवाला कहा गया है और माघ कार्तिकसे लाखगुना फल देनेवाला कहा गया है, यह साक्षात् भगवान् नारायणका निर्णय है—

कार्तिकं सर्वमासेभ्यः सहस्रफलदं विदुः।
तस्मात् कोटिगुणो माघ इति प्राह जनार्दनः॥

(वायुपुराणका माघ-माहात्म्य, अध्याय १ । २२-२३)

अतः माघमें किसी पवित्र नदी या जलाशय आदिमें स्नान कर विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये।

यों तो पूजाके ६४ उपचार भी होते हैं पर इतना न हो सके तो कम-से-कम १६ उपचार तो होना ही चाहिये। माघ-मासके पूजनके सम्बन्धमें कहा गया है कि विधिपूर्वक स्नानादिसे निवृत्त होकर क्लेशहारी केशवका श्रद्धापूर्वक तन्मय होकर पूजन करे। माघमें जो एक फूलसे भी भगवान्‌की पूजा करता है, वह करोड़ों कुलके साथ विष्णुमन्दिरमें आनन्द करता

---

१. शिरीषोन्मत्तगिरिजामल्लिकाशाल्मलीभवैः ।
अर्कजैः कर्णिकारैश्च विष्णुर्नार्च्यस्तथाक्षतैः॥
जपाकुन्दशिरीषैश्च यूथिकामालतीभवैः।
केतकीभवपुष्पैश्च नैवार्च्यः शंकरस्तथा॥
गणेशं तुलसीपत्रैर्दुर्गां नैव तु दुर्वया।
मुनिपुष्पैस्तथा सूर्यं लक्ष्मीकामो न चार्चयेत्॥
(पद्म० उत्तर० ९४ । २६—२८

हैं[1]। अतएव पहले पुष्प लेकर भगवान्का ध्यान करे फिर पुरुषसूक्त[2] तथा पौराणिक, तान्त्रिक मन्त्रोंसे उपचारोंको निवेदित करता जाय। सम्भव हो तो कर्माङ्ग दीप तथा सुगन्धित पूजाके आरम्भमें ही प्रज्वलित किया जा सकता है। फिर ताली बजाकर या शङ्खध्वनिसे भगवान्को जगाना चाहिये। तत्पश्चात् अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय निवेदन कर स्नान कराना चाहिये। पञ्चामृतसे स्नान करानेका बड़ा महत्त्व है। पञ्चामृतमें दूध, दही, घी, मधु और शक्कर रहते हैं। पञ्चामृत स्नान तथा प्रत्येक उपचारके अन्तमें आचमनीय जल देनेकी भी पद्धति है। पञ्चामृत स्नानोंके साथ तो प्रति बार शुद्धोदक स्नान भी चलता है। स्नान कराते समय ताम्रपात्रमें तुलसीदल आदिपर विराजमान कराकर शंखमें जल लेकर चन्दन-पुष्प-मिश्रित जलसे पुरुषसूक्तके मन्त्रोंको पढ़ते हुए घण्टा बजाकर स्नान कराना चाहिये। साथमें 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' तथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे' आदि मन्त्र भी पढ़ने चाहिये। शालग्राम शिला, ताम्रपात्र, जल, शङ्ख, पुरुषसूक्त, चन्दन, घण्टानाद तथा तुलसी—इन आठ वस्तुओंके सहारे चरणामृत-तीर्थ बनता है। स्नानोपरान्त, वस्त्र तथा यज्ञोपवीत अर्पण करना चाहिये। तदनन्तर तुलसी-मिश्रित चन्दन, अगरु, कर्पूर, कस्तूरी, रोचनामिश्रित गन्ध चढ़ाना चाहिये। माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति दस पूर्वके पुरुषों तथा दस पीछे उत्पन्न होनेवाले अपने वंशजोंके साथ विष्णुलोकमें कई पद्म कल्पोंतक वैकुण्ठमें आनन्द प्राप्त करता है।

> श्रीखण्डचन्दनोन्मिश्रं कृष्णागुरुसमन्वितम्।
> तुलसीचन्दनोन्मिश्रं यो गन्धं विष्णवेऽर्पयेत्॥
> कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च।
> वैकुण्ठं मोदते नित्यं दशपूर्वैः दशापरैः॥
>
> (वा० मा० मा० २। ६८। ६९)

स्त्री-शूद्रादिकोंको ब्राह्मणसे भगवान्की पूजा करानी चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है—

> 'ब्राह्मणैः कारयेत् पूजां स्त्रीशूद्रादि द्विजोत्तम।'
>
> (मा० मा० २। ६२)

[illegible] महीनेमें जो १०० तुलसी-पत्रोंसे भगवान्की पूजा करता है, उस[illegible] पुण्य वर्णन करना कठिन है। इसी प्रकार कमलपु[illegible] भी भगवान्की पूजा करनेवालेके घर कमला ([illegible]) का वास होना कहा गया है। पर बिना पुष्पके माघ मासकी पूजा हानिकर होती है। ऐसा करनेवाला अपने पुण्यसे हाथ धोता है—

> अपुष्पं पूजयेद् यस्तु माधवं माधवल्लभम्।
> कुलनाशो भवेत् तस्य पुण्यं चापि विनश्यति॥
>
> (मा० २। ६०)

माघ मासमें अगस्तके फूलसे पूजा करनेसे भगवान् विष्णुकी १०० वर्ष पूजा करनेका फल प्राप्त हो जाता है।*

कमलसे पूजित होनेपर भगवान् बत्तीस प्रसिद्ध अपराधोंको क्षमा कर देते हैं और तुलसीसे पूजित होनेपर तो हजारों अपराधोंको क्षमा कर डालते हैं—

> अर्चितस्तुलसीपत्रैर्माधवो भक्तवत्सलः।
> अपराधसहस्राणि क्षमते नात्र संशयः॥
>
> (मा० मा० २। ७५)

पर तुलसीहीन पूजा कभी न करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला मानो अपने कुलको रुधिरोदकमें गिराता है[1]। इसी प्रकार चन्दन और धूपके बिना भी की गयी पूजा नरकप्रद होती है। माघमासमें धूप देनेवालेको मोक्ष कहा गया है—

> दशाङ्गं गुग्गुलं धूपं योऽर्पयति विष्णवे।
> न तस्य संततेर्हानिर्न पापी जायते कुले॥
> स्वयं मोक्षमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा।
>
> (मा० मा० २। ८३)

---

१. पुष्पेणैकेन माघे तु माधवं पूजयेद् यदि।
कुलकोटिसमायुक्तो मोदते विष्णुमन्दिरे॥
(वायु० माघ० मा० २। ६१)

२. पुरुषसूक्तके १६ मन्त्र शु० यजुर्वेदमें (३१। १—१६) तक हैं।

* तुलसी—'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा' इस मन्त्रसे चढ़ाना चाहिये।

माधवं मुनिपुष्पैस्तु यः पूजयति मानवः।
तेन वर्षशतं विष्णुः पूजितः स्यान्न संशयः॥
(मा० मा० ४। ४६)

१. यः पूजां तुलसीहीनां माघे मकरगे रवौ।
कुर्याद यदि विमूढात्मा हृदये शल्यमर्पितम्॥
कुलानि पातयेत् सत्यं नरके रुधिरोदके।
(मा० २। ६४)

स्नान, धूप, नैवेद्य तथा आर्तिक्यके समय घण्टानाद अवश्य करना चाहिये । ऐसा करनेवाला देवगणोंसे पूजित—प्रशंसित होकर विष्णुलोकको जाता है—

घण्टानादं तु यः कुर्यात्…
स्तूयमानो देवगणैर्विष्णुलोके महीयते । (८४)

माघमासमें भगवान्के सम्मुख दीपदान करनेवाला साक्षात् भगवान्का दर्शन पाता है ।

दीपदानं तु यः कुर्यात्…………।
………साक्षात् पश्यति तं हरिम् ॥
(८६)

सुना जाता है कि पितृगण कहा करते हैं कि—'क्या हमारे खानदानमें कोई ऐसा भी व्यक्ति होगा जो माघमें भगवान्के सामने क्षणभर भी दीप जलायेगा । ऐसा होता तो हम तर जाते ।

श्रूयते पितृगाथापि दीपदाने मुनीश्वर ।
यः को वास्मत्कुले जातो माघे मासि हरेः पुनः ॥
दद्याद् दीपं क्षणं वापि स नः संतारयिष्यति ।
(८७-८८)

अधिक क्या, जो दीप जलानेके लिये तेल, घी, बाती या कपास भी श्रद्धापूर्वक अर्पण करते हैं वे स्त्री हों या पुरुष, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ।

तत्पश्चात् विविध प्रकारके नैवेद्य अर्पण करने चाहिये । नैवेद्यसे माघमासमें भगवान्की पूजा करनेवाला प्राणी मोक्ष पाता है—

निवेदयति नैवेद्यं ब्रह्मभूयाय कल्पते । (९२)

साथ ही बिना नैवेद्यकी पूजा करनेवाला व्यक्ति कुम्भीपाकमें घोर नरकाग्निसे पीड़ित होता है ।[1] अतः नैवेद्य लगाना न भूले ।

तत्पश्चात् आचमन कराकर ताम्बूल देकर कर्पूर एवं पाँच या सौ या सहस्र वर्तियोंसे नीराजन (आर्तिक्य) करना चाहिये । माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति करोड़ों बार सार्वभौम राजा होता है—

'कोटिवारं सार्वभौमः सर्वसम्पत्समावृतः' (१०९)

आरतीके समय सिरपर शंखोदक[2] धारण करना चाहिये । इससे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । फिर पूजाके अन्तमें स्तोत्र-पाठ तथा नमस्कार करना चाहिये । पूजा तन्मयतापूर्वक करनी चाहिये । पूजा करते समय जो सांसारिक वार्तालाप करता रहता है वह घोर नरकमें जाता है[3], जो स्तोत्र-विहीन पूजा करता है वह उन्मादी होता है, अतएव इनसे बचना चाहिये । फिर प्रदक्षिणा[4] करनी चाहिये । माघमें भगवान्की प्रदक्षिणा करनेवालेको पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होना कहा गया है—

पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयः ।

पूजाके अन्तमें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेवालेको सहस्र अश्वमेध अनुष्ठानका फल होता है । अतएव साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिये । अन्तमें निम्न श्लोकोंसे क्षमापन कराना चाहिये—

अज्ञानाद् वा प्रमादाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च ।
यन्न्यूनमतिरिक्तं वा तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥
द्रव्यहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं मयान्यथा ।
कृतं यत् तत् क्षमस्वेश कृपया त्वं दयानिधे ॥
यन्मया क्रियते कर्म जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्सर्वं तावकी पूजा भूयाद् भूत्यै च मे प्रभो ॥
भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम् ।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो ॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात् कारुण्यभावेन क्षमस्व परमेश्वर ॥
अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व जगतां पते ॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥
(नारदपुराण पूर्व० ६७ । ११०—११७)

सम्भव हो तो इसी प्रकार तीनों काल पूजा करनी चाहिये ।

१. विदधाति हरेः पूजां विना नैवेद्यमल्पधीः । कुम्भीपाके महाघोरे पच्यते नरकाग्निना ॥ (मा० मा० २ । ९१)
२. शङ्खमध्ये स्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि । अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ (मा० मा० ४ । २१)
३. लोकवार्ताप्रसङ्गेन यः कुर्याद् देवतार्चनम् । तप्तायसि महाघोरे यमः पातयति स्वयम् ॥ (९३)
४. भगवान् विष्णुकी प्रदक्षिणा चार बार, गणेशजीकी तीन बार, सूर्यकी सात बार तथा भगवान् शंकरकी आधी ही करनी चाहिये ।

श्रीहरिः

विनीत प्रार्थना

'कल्याण' का प्रायः सारा सम्पादन-[illegible] तीर्थ-यात्रा ट्रेनमें चला गया है। अतएव इस बीचमें पत्रव्यवहार बड़ी कठिनतासे हो सकेगा। अतः सबसे [illegible] है कि बहुत अधिक आवश्यकता होनेपर ही सम्पादकके नाम या सम्पादन-विभागको पत्र लिखें [illegible] उत्तर देरसे पहुँचे तो क्षमा करें। पहलेके भी बहुतसे सज्जनोंके पत्र आये रखे हैं, जिनका [illegible] नहीं दि[illegible] सका है। वे भी कृपापूर्वक क्षमा करें। यह मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

गीताप्रेस तथा कल्याणके सभी प्रेमियोंसे निवेदन

गीताप्रेस-तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेन

गीताप्रेस एक आध्यात्मिक संस्था है और यह सम्पूर्ण विश्वकी निधि है। इसका उद्देश्य है—विश्वमें सार्वभौम वैदिक संस्कृतिका प्रचार, उपलब्ध एवं अनुपलब्ध आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक साहित्यको जनता तक अत्यन्त सुलभ मूल्यमें पहुँचाना, प्राचीन धार्मिक ग्रंथोंकी खोज, उनका प्रामाणिक-रूपमें मुद्रण तथा उनके द्वारा लोगोंमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, प्रेम, सहिष्णुता आदि-आदि सद्गुणों-का प्रसार, सत्संगके द्वारा सात्त्विक जीवनको प्रोत्साहन-दान, विविध रूपोंमें जनता-जनार्दनकी सेवा। इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर उक्त संस्थाकी ओरसे एक तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेनका आयोजन किया गया है, जो २७ जनवरी, १९५६ शुक्रवारको काशीधामसे प्रस्थान कर चुकी है। तीन महीने तक तीर्थोंका भ्रमण करके वापस २६ अप्रैलको बनारस पहुँचनेका कार्यक्रम है। इसमें ६०० से अधिक यात्री हैं। किस तिथि-को किस स्थानपर पहुँचेगी, इसकी सूची नीचे दी जा रही है। जिन-जिन स्थानोंमें यह गाड़ी जा रही है, उन-उन स्थानोंके प्रेमी महानुभावोंसे निवेदन है कि वे यात्रियोंकी सुविधाके लिये ट्रेनके कार्यकर्ताओंको यथासाध्य सहायता दें, अपने यहाँके समाचारपत्रोंमें पहलेसे ही सूचना अवश्य छपवा दें और सत्संग-कीर्तन आदिका संक्षिप्त आयोजन भी करें। इस ट्रेनमें कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार तथा कल्याण-कल्पतरुके सम्पादक—श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री भी जा रहे हैं।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी तीर्थयात्रा-गाड़ी

संवत् २०१२ (सन् १९५६)

मार्ग-सूची तथा समय-सारिणी

स्थान	मास/पक्ष	तिथि/वार	तारीख
१—बनारस कैन्ट	पौष शुक्ल	१५ शुक्र	२७—१—५६
२—करवी (चित्रकूट)	माघ कृष्ण	१-२	२८-२९ जनवरी
३—इलाहाबाद (प्रयाग)	"	३ सोम	३०—१—५६
४—अयोध्या	"	४ मंगल	३१—१—५६
५—नैमिषारण्य	"	५ बुध	१—२—५६
६—हरद्वार	माघ कृष्ण	६ गुरु	२—२—५६
७—कुरुक्षेत्र	"	७ शुक्र	३—२—५६
८—मथुरा	"	८-९-१०	४—५—६ फरवरी
छोटी लाइन बदलेगी			
९—उज्जैन	"	११-१२	७—८ फरवरी

१०–इन्दौर	माघ कृष्ण	१ गुरु	९–२–५६
११–ओंकारेश्वर	"	१४ शुक्र	१०–२–५६
१२–चित्तौड़गढ़	"	३० शनि	११–२–५६
१३–उदयपुर	माघ शुक्ल	१ रवि	१२–२–५६
१४–नाथद्वारा	"	२ सोम	१३–२–५६
१५–अजमेर	"	३ मंगल	१४–२–५६
१६–सिद्धपुर	"	४ बुध	१५–२–५६
१७–ओखापोर्ट (बेट द्वारका)	"	५ गुरु	१६–२–५६
१८–द्वारका	"	६-७	१७-१८ फरवरी
१९–पोरबन्दर	"	८ रवि	१९–२–५६
२०–वेरावल	"	९ सोम	२०–२–५६
२१–जूनागढ़ (गिरनार)	"	१०-११	२१-२२ फरवरी

बड़ी लाइन बदलेगी

२२–श्रीरमग्राम	"	१२ गुरु	२३–२–५६
२३–अहमदाबाद	"	१३ शुक्र	२४–२–५६
२४–डाकोर	"	१४ शनि	२५–२–५६
२५–बड़ौदा	"	१५ फा० कृ० २	२६–२७ फरवरी
२६–भरूच	फाल्गुन कृष्ण	३ मंगल	२८–२–५६
२७–सूरत	"	४ बुध	२९–२–५६
२८–बम्बई	"	५-६-७	१-२-३ मार्च
२९–नासिक	"	८-८	४-५ मार्च
३०–कुर्दुवाड़ी (पंढरपुर)	"	९-१०-११	६-७-८ मार्च

छोटी लाइन बदलेगी

३१–शोलापुर	"	१२ शुक्र	९–३–५६
३२–[illegible]मी	"	१३ शनि	१०–३–५६
३३–हॉसपेट	"	१४-३०	११-१२ मार्च
३४–मैसूर	फाल्गुन शुक्ल	१-२	१३–१४ मार्च
३५–श्रीरंगपत्तन	"	३ गुरु	१५–३–५६
३६–मद्दूर	"	४ शुक्र	१६–३–५६
३७–बंगलोर	"	५-६	१७-१८ मार्च
३८–कालहस्ती	"	७ सोम	१९–३–५६
३९–तिरुपती	"	८ मंगल	२०–३–५६
४०–तिरुवणमल्लै	फाल्गुन शुक्ल	९ बुध	२१–३–५६
४१–श्रीरंगम्	"	११ गुरु	२२–३–५६
४२–त्रिचन[illegible]	"	१२ शुक्र	२३–३–५६
४३–श्रीविल्ली[illegible]	"	१३ शनि	२४–३–५६
४४–टेनका[illegible]	"	१४-१५	२५–२६ मार्च
४५–तिन्नावेली	चैत्र कृष्ण	१-२-३	२७–२८-२९ मार्च
४६–मदुरा	"	४ शुक्र	३०–३–५६
४७–धनुषकोटि	"	५ शनि	३१–३–५६
४८–रामेश्वरम्	"	६-७	१-२ अप्रैल
४९–रामनद	"	८ मंगल	३–४–५६
५०–तंजोर	"	९ बुध	४–४–५६
५१–कुंभकोणम्	"	१० गुरु	५–४–५६
५२–मन्नार गुडी ५३–निरु[illegible]र	"	११ शुक्र	६–४–५६
५४–[illegible]रंग्यम्	"	११ शनि	७–४–५६
५५–मायावरम्	"	१२ रवि	८–४–५६
५६–सियाली	"	१३ सोम	९–४–५६
५७–चिदम्बरम्	"	१४ मंगल	१०–४–५६
५८–पाण्डिचेरी	"	३० बुध	११–४–५६
५९–चिंगलपेट	चैत्र शुक्ल	१ गुरु	१२–४–५६
६०–कांजीवरम्	"	२ शुक्र	१३–४–५६

बड़ी लाइन बदलेगी

६१–मद्रास	"	४-५	१४–१५ अप्रैल
६२–विजय वाड़ा	"	६ सोम	१६–४–५६
६३–राजमहेन्द्री	"	७ मंगल	१७–४–५६
६४–सिंहाचलम्	"	८ बुध	१८–४–५६
६५–पुरी	"	९-१०	१९–२० अप्रैल
६६–कटक	"	११ शनि	२१–४–५६
६७–भुवनेश्वर	"	१२ रवि	२२–४–५६
६८–हवड़ा	"	१३-१४	२३–२४ अप्रैल
६९–वैद्यनाथ धाम	"	१५ बुध	२५–४–५६
७०–बनारस	वैशाख कृष्ण	१ गुरु	२६–४–५६